भारतीय प्रशासन : एक संवैधानिक परिप्रेक्ष्य
(Indian Administration : A Constitutional Perspective)

सदियों की गुलामी से छुटकारा प्राप्त करने के लिए एक लम्बे राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद सन् 1947 में भारत एक महत्वपूर्ण करवट लेता है। इसके परिणामस्वरूप भारतवासियों को स्वतन्त्रता के वातावरण में सांस लेने का मौका मिलता है तथा अपनी आकांक्षाओं, मूल्यों, दर्शन, आदर्शों एवम् यथार्थताओं को संविधान के रूप में अभिव्यक्त करने का भी अवसर प्राप्त होता है। भारतीय संविधान-निर्मात्री सभा ने भारतीय जनता को देश के शासन के सुसंचालन हेतु एक विशुद्ध भारतीय मार्का संविधान एक महत्वपूर्ण धरोहर के रूप में उपलब्ध करवाया। प्रत्येक देश की प्रशासनिक संरचना तत्सम्बन्धी संविधान के अनुरूप अपना आचार-व्यवहार निर्धारित करती है लेकिन दुर्भाग्य से विश्व के लगभग सभी प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों के संविधानों में प्रशासनिक संरचना एवम् भूमिका के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। विश्व के अन्य संविधानों की भांति भारतीय संविधान में भी भारतीय प्रशासन की संरचना, भूमिका एवम् कार्यों के सम्बन्ध में कोई विशेष प्रावधान नहीं किये गये हैं। भारतीय संविधान में प्रशासन के क्षेत्र में अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना तथा उनकी सेवा सुरक्षा के प्रावधान मात्र प्रस्तुत कर उनके विकास एवम् संचालन को देश की भावी राजनीतिक व्यवस्था के निर्णयों पर छोड़ दिया गया है।

इस प्रकार यद्यपि देश के संविधान में भारतीय प्रशासन के सन्दर्भ में कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है लेकिन फिर भी प्रत्येक प्रशासनिक व्यवस्था देश के संविधान, देश की संवैधानिक कार्य-प्रक्रिया, देश की शासन-व्यवस्था, संविधान के दर्शन एवम् आदर्शों से गम्भीर रूप से प्रभावित होती है तथा साथ ही उनसे प्रेरणा भी लेती है।

अत: भरतीय प्रशासन की रूपरेखा, संरचना, भूमिका एवम् कार्य प्रणाली का दिग्दर्शन करने से पहले यह आवश्यक है कि भारतीय संविधान के दर्शन, आकांक्षाओं एवम् यथार्थताओं का संक्षेप में अध्ययन कर लिया जाये।

भारतीय संविधान की विशेषताएं
(Salient Features of Indian Constitution)

1. भारतीय संविधान की प्रस्तावना

भारतीय संविधान निर्मात्री सभा ने 26 नवम्बर 1949 को संविधान निर्माण का कार्य पूरा किया। अन्य संविधानों की भांति भारतीय संविधान के प्रारम्भ में प्रस्तावना का उल्लेख किया गया है। प्राय: इस प्रस्तावना में संविधान के उन उद्देश्यों, आदर्शों, मूल्यों एवम् आकांक्षाओं का उल्लेख किया जाता है, जिन्हें वह प्राप्त करना चाहता है अथवा जिनकी तत्सम्बन्धी समाज में स्थापना करना चाहता है। संविधान के इन आदर्शों अथवा लक्ष्यों की सम्प्राप्ति राजनीतिक व्यवस्था और इसलिए प्रशासनिक व्यवस्था का प्राथमिक एवम् सर्वोपरि दायित्व हो जाता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि :

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक धर्म निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिये तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता

बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई० को एतद् द्वारा इस संविधान को अधिकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

इस प्रकार भारतीय संविधान का लक्ष्य है कि वह एक ऐसे समाज की स्थापना करे जिसमें धर्म निरपेक्षता एवम् समाजवादी व्यवस्था का वर्चस्व हो। समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना हो। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार अभिव्यक्त करने, अपने विश्वास, धर्म एवम् उपासना करने की स्वतन्त्रता हो तथा सभी को अवसर की समानता हो। ऐसे समाज के निरूपण की कल्पना भारतीय संविधान की प्रस्तावना में की गयी है। इस कल्पना को साकार करने के लिए राजनीतिक व्यवस्था एवम् भारतीय प्रशासन दोनों मिलकर प्रयास करेंगे। अत: भारतीय प्रशासन को भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित एवम् निर्दिष्ट दिशा-निर्देशों के अनुरूप कार्य करना होता है तथा उन लक्ष्यों एवम् उत्तरदायित्वों के वहन के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना होता है। वस्तुत: भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारतीय प्रशासन की पथ-प्रदर्शक एवम् प्रेरणा स्रोत है।

2. संसदात्मक शासन स्वरूप

भारतीय संविधान भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना का पक्षधर है। भारत में केन्द्र तथा राज्य दोनों ही स्तरों पर संसदीय शासन को अंगीकार किया गया है। अत: प्रशासनिक व्यवस्था भी उसी के अनुरूप विकसित की गयी है। चूंकि संसदीय शासन में जन-प्रतिनिधि मन्त्री-मण्डल के सदस्य होते हैं और उन्हीं से मिलकर सरकार बनती है अत: सरकार का संचालन प्रधान मन्त्री और उसके मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है, लेकिन इन लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि ये लोग शासन एवम् प्रशासन के बारे में पर्याप्त ज्ञान रखते हों। अत: इन लोगों के सहायतार्थ शासन एवम् प्रशासन के विशेषज्ञों की व्यवस्था की जाती है। ये प्रशासन के विशेषज्ञ लोगों की नीति निर्माण, नीति-क्रियान्वयन एवम् नीतिमूल्यांकन सम्बन्धी कार्यों में सहायता करते हैं। इन कार्यों के सम्पादन में प्रशासनिक अधिकारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने आपको प्रशासनिक कार्यों से तटस्थ रखते हुए परामर्श देंगे अथवा मन्त्रियों की सहायता करेंगे। उन्हें अपने आपको शासनिक अथवा प्रशासनिक कार्यों में संलग्न (involve) नहीं करना चाहिये। अपने आपको निरपेक्ष तथा तटस्थ रखते हुए मन्त्रियों को सलाह अथवा परामर्श देना चाहिये। यद्यपि जब भूतपूर्व भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सन् 1969 में प्रतिबद्ध नौकरशाही (Committed Bureaucracy) का नारा दिया तब भारतीय प्रशासन में अनेक वाद-विवाद उठ खड़े हुए थे और यह कहा जाने लगा था कि भारतीय प्रशासन किसके प्रति प्रतिबद्ध हो ? भारतीय संविधान के प्रति प्रतिबद्ध हो अथवा तत्कालीन सत्तारूढ़ दल के प्रति ? इसी प्रकार श्रीमती गांधी का प्रतिबद्धता से क्या तात्पर्य है। वे किसके प्रति प्रतिबद्धता चाहती हैं ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए थे।

इसी प्रकार भारतीय संसदीय शासन के सन्दर्भ में आजकल यह भी कहा जाने लगा है कि पूर्ण तटस्थता न तो शायद कभी रही है और न ही व्यवहार में सम्भव है। आजकल जिस तरह हम लोग व्यवहार में देखते हैं कि एक मन्त्रिमण्डल के हटने पर तथा दूसरे मन्त्रिमण्डल के शपथ लेने पर पुराने प्रशासनिक अधिकारियों को महत्त्वपूर्ण पदों से स्थानान्तरित किया जाता है तथा दूसरे अधिकारियों का पदस्थापन किया जाता है। इससे स्पष्टहै कि शायद तटस्थता अथवा निरपेक्षता बीते हुए युग (Out dated) की कहानी बनकर रह गयी है।

3. संघात्मक शासन

भारतीय संविधान देश में संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना करता है। यद्यपि यह संघात्मक शासन अपने आप में अपूर्व है। इसमें संघात्मकता के तत्व कम और एकात्मकता के तत्व अधिक है। अत: कुछ विद्वानों ने इसे अर्द्धसंघ कहा है तो किसी ने एकात्मक संघ की संज्ञा प्रदान की है। यह एक संघ शासन है अत: केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी, वित्तीय एवम् प्रशासनिक सम्बन्धों की व्यवस्था भी संविधान में की गयी है। चूंकि भारत में दो प्रकार की सरकारें है : प्रथम केन्द्रीय सरकार तथा द्वितीय राज्य सरकारें। अत: देश में दो प्रकार के प्रशासनिक अधिकारी है : प्रथम अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी तथा केन्द्रीय सेवाओं के अधिकारी और द्वितीय राज्य सरकारों के अधिकारी। इस प्रकार इन अधिकारियों का दायित्व है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका एवम् मन्त्रि-मण्डल तथा तत्सम्बन्धी राज्य विधान मण्डल एवम् मन्त्रीमण्डल के

द्वारा निरुपित नीतियों तथा निर्धारित लक्ष्यों के अनुरुप शासन का संचालन कर जनकल्याणकारी कार्यों का सम्पादन करें।

4. नीति निर्देशक तत्वों का समावेश

भारतीय संविधान के भाग चार में राज्य के नीति के निर्देशक तत्वों की व्यवस्था की गयी है। इन निर्देशक तत्वों की क्रियान्विति के माध्यम से एक लोकतान्त्रिक एवम् कल्याणकारी सरकार की स्थापना करने का उपक्रम किया गया है। ये तत्व राज्य का पथ-प्रदर्शन करते हैं तथा उस दिशा की ओर इंगित करते हैं जिस ओर संविधान निर्माता भारत को ले जाना चाहते थे। इन तत्वों के माध्यम से संविधान की प्रस्तावना में निर्दिष्ट सामाजिक एवम् आर्थिक न्याय की स्थापना की ओर प्रयास किये जाने की बात कही गयी है। अत: भारतीय प्रशासन को अपने कार्यों के सम्पादन में नीति निर्देशक तत्वों का पूर्णतया ध्यान रखना होगा। प्रशासन लोक कल्याण हेतु जीवित है और इसलिए इस दिशा में नीति-निर्देशक तत्व उसके प्रेरणा स्रोत हैं।

5. मौलिक अधिकारों एवम् मौलिक कर्त्तव्यों का समावेश:

भारतीय संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है तथा 42 वें संविधान-संशोधन के द्वारा संविधान के भाग चार-अ में नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्यों का प्रावधान किया गया है। इन अधिकारों एवम् कर्त्तव्यों के अद्भुत मेल से प्रशासनिक व्यवस्था का दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। एक ओर मौलिक अधिकार प्रशासन के कार्यों पर एक नियन्त्रण रखते हुए सन्तुलन की स्थापना करते हैं और दूसरी ओर नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्य प्रशासन को अपने कार्यों के समुचित निर्वहन में सहायता करते हैं।

6. लोक कल्याणकारी राज्य

भारतीय संविधान देश में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि नीति निर्देशक तत्वों की व्यवस्था का उद्देश्य देश में कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। इसके अतिरिक्त पंचवर्षीय योजनाओं एवम् समाजवादी समाज की संरचना की स्थापना का उद्देश्य लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। ऐसी स्थिति में प्रशासनिक व्यवस्था को न केवल नियामकीय कार्यों का ही सम्पादन करना होता है अपितु उसे विधेयात्मक कार्यों का भी सम्पादन करना होता है। अत: आज लोक-कल्याणकारी कार्यों ने प्रशासन के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है और इसीलिए आज के राज्य को अनेक विद्वानों ने उसे प्रशासनिक राज्य (Administrative State) की संज्ञा प्रदान की है।

7. स्वतन्त्र न्यायपालिका

संविधान की सर्वोच्चता, संघात्मक शासन व्यवस्था और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए संविधान ने स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था की है। जब कभी व्यवस्थापिका का कानून अथवा कार्यपालिका के आदेश संवैधानिक उपबन्धों का उल्लंघन करते हैं अथवा इसमें से कोई अपने कार्यक्षेत्र से बाहर जाकर कार्य करते हैं तो न्यायालय उन्हें अवैध ठहरा सकता है। नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा हेतु न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेधाज्ञा, अधिकारपृच्छा और उत्प्रेक्षण आदि लेख जारी कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय देश के सभी न्यायालयों पर बाध्यकारी होते हैं।

स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था स्वयं प्रशासन पर एक बाध्यकारिता एवम् नियन्त्रण है तथा साथ ही न्यायालय प्रशासन का सहगामी भी है और ऐसी परिस्थितियां भी न्यायालय पैदा करता है जिन परिस्थितियों में प्रशासन अपने दायित्वों का आसानी से निवर्हन भी कर सकता है। न्यायालय प्रशासन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर प्रशासन को लोक कल्याणकारी कार्यों के सम्पादन हेतु प्रेरित करता है।

8. सामाजिक समानता का पक्षधर

भारतीय संविधान भारत में राजनीतिक समानता के साथ-साथ सामाजिक समानता की भी व्यवस्था करता है। भारतीय संविधान के भाग XVI के 13 अनुच्छेदों (330 से 342) में विशेष व्यवस्थाएं की गयी हैं। इन विशेष व्यवस्थाओं के अन्तर्गत संविधान आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए लोकसभा में विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करता है। इसी प्रकार अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों के लिए भी विशेष व्यवस्थाओं

का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार संविधान में अस्पृश्यता के निवारण की बात की गयी है। अस्पृश्यता को फैलाना अथवा बढ़ावा देना एक दण्डनीय अपराध है। अत: इन सभी क्षेत्रों में प्रशासन का दायित्व बढ़ जाता है। प्रशासन को सामाजिक न्याय एवम् सामाजिक समानता की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संविधान में जिन आदर्शों आकांक्षाओं तथा लक्ष्यों को इंगित किया गया है उन आकांक्षाओं अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति करना राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था का दायित्व है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रशासन को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और आज के सन्दर्भ में तो इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रशासन को और भी अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह उल्लेख किया गया है कि भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य होगा। देश में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना का एक सन्दर्भ विशेष रहा है। भारत एक ऐसा देश है जहां अनेक विश्वासों अथवा धर्मों में विश्वास करने वाले लोग निवास करते हैं। अत: राज्य का दायित्व है कि वह सभी धर्मों को समान समझे। राज्य किसी धर्म विशेष को संरक्षण प्रदान नहीं करे, किसी धर्म विशेष का प्रचार नहीं करे, नागरिकों को किसी धर्म विशेष को अपनाने अथवा छोड़ने के लिए नहीं कहे। अत: धर्म-निरपेक्षता से तात्पर्य है—सर्वधर्म समभाव। धर्म-निरपेक्ष राज्य में सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया जाता है तथा धर्म को व्यक्ति का निजी क्षेत्र मानकर उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। लेकिन आज के सन्दर्भ में हम देखते हैं कि संविधान ने राज्य को तो धर्मनिरपेक्ष घोषित कर दिया लेकिन अभी धर्मनिरपेक्ष समाज का अभाव पाया जाता है। राज्य की नीतियां तो धर्म निरपेक्ष हो सकती हैं, लेकिन अभी तक न तो समाज धर्म-निरपेक्ष बन पाया है और न ही हमारे राजनीतिक कर्णधार अपना दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष बना पाये है। इसलिए आज देश के कौने-कौने में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं, देश धू-धू करके जल रहा है। अधिकाशं राज्यों के न केवल बड़े-बड़े शहरों में अपितु छोटे-छोटे गांवों में कर्फ्यू लगे हुए हैं, हथियारों के जखीरे मिल रहे हैं, कहीं हिन्दू-मुस्लिम झगड़े तो कही सिक्ख-हिन्दू झगड़े दिखाई देते हैं और मारकाट मची हुए है। इन्सान इन्सानियत का दुश्मन बना हुआ है। अत: ऐसी स्थिति में प्रशासन का दायित्व बढ़ जाता है। सिविल प्रशासन के बस की बात नहीं रह जाता तो सम्पूर्ण व्यवस्था सैन्य प्रशासन को सौंप दी जाती है। अत: प्रशासन का यह दायित्व है कि वह धर्मनिरपेक्ष राज्य की भांति धर्म-निरपेक्ष समाज की स्थापना में योगदान दे जिससे साम्प्रदायिक आग को समाप्त कर समाज में अमन चैन कायम किया जा सके।

इसी प्रकार सामाजिक समानता की स्थापना के सन्दर्भ में भी प्रशासन को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। भारतीय समाज में राजनीतिक समानता के साथ-साथ सामाजिक एवम् आर्थिक समानता की बात कही गयी है, लेकिन अभी तक इस दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। जैसा कि कहा जा चुका है सामाजिक समानता की स्थापना हेतु अनुसूचित जातियों एवम् अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्थाओं के प्रावधान किये गये हैं, लेकिन इस दिशा में भी अभी बहुत कुछ करना शेष है। इसके अतिरिक्त अभी समाज का बहुत बड़ा भाग पिछड़ा हुआ है। इस पिछड़ेपन की स्थिति को कैसे दूर किया जाये ? आज भारतीय प्रशासन के समक्ष बहुत बड़ी समस्या यही है। इस दिशा में विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार ने 'मण्डल आयोग' की रिपोर्ट को सामाजिक समानता की स्थापना का आधार बनाने का प्रयास किया। लेकिन जो भीषण आग देश में लगी, जो युवा-आत्मदाहों का सिलसिला शुरु हुआ, उससे यह स्पष्ट है कि 'मण्डल अयोग' के पास इस समस्या का समाधान नहीं है। समस्या के निष्पक्ष एवम् ईमानदारी (राजनीतिक दांव पेंच नहीं) के साथ समाधान के लिए यह आवश्यक है कि सरकारी सहायता का आधार जातिगत न होकर वास्तव में पिछड़ापन हो तो समस्या का समाधान ज्यादा द्रुतगति से हो सकेगा तथा सही अर्थों में सामाजिक समानता की ओर अग्रसर हुआ जा सकेगा। यदि इसी प्रकार की स्थिति चलती रही तो हो सकता है देश में एक जाति बनाम दूसरी जाति की लड़ाई शुरु हो जाये और गृह-युद्ध की स्थिति पैदा हो जाये और प्रशासन के लिए शान्ति, कानून एवं व्यवस्था बनाये रखना ही मुश्किल हो जाये। अत: प्रशासन को चाहिये कि वह समाज में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने में योगदान दे तथा सामाजिक समानता की स्थापना का प्रयास करे।

इसी प्रकार इस सन्दर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि देश में सर्व-धर्म-समभाव और सामाजिक समानता हो। समय की आवश्यकता यह भी है कि केन्द्र राज्यों के बीच भी सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध हो अन्यथा देश किसी

भी समय विघटित हो सकता है। चाहे समस्या रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद से सम्बन्धित हो, अथवा कश्मीर से सम्बन्धित हो, अथवा पंजाब से सम्बन्धित हो, अथवा असम के बोड़ो आन्दोलन से अथवा तमिल उग्रवादियों से, आज आवश्यकता इस बात की है कि केन्द्र और राज्य सरकारें मिलकर ऐसा समाधान निकालें जिससे सम्बन्धित पक्ष की शिकायतें दूर हो सकें और वास्तव में समस्या का निराकरण हो सके। इन सभी समस्याओं के समाधान में भारतीय प्रशासन को अपनी योग्यता, क्षमता एवम् सामर्थ्य के अनुरुप अपनी भूमिका अदा करनी चाहिये। अपने राजनीतिक स्वामियों को, जो कि जन-प्रतिनिधि भी हैं उन्हें इस प्रकार का परामर्श देना चाहिये जिससे कि इन समस्याओं का समय रहते सर्वमान्य हल निकल सकें।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था
(Indian Political System)

भारतीय संविधान देश में संसदीय शासन की स्थापना करता है। यद्यपि संविधान में कहीं भी संसदीय शासन का उल्लेख नहीं किया गया है लेकिन फिर भी शासन व्यवस्था को ब्रिटिश शासन के स्वरुप पर विकसित होने की परम्परा पर छोड़ दिया गया है। इसीलिए संविधान में कई स्थानों पर विरोधाभास भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए संविधान में कहा गया है कि भारतीय राष्ट्रपति शासन का संचालन करेगा तथा प्रधानमन्त्री और उसका मन्त्रिमण्डल उसकी सहायता करेगा लेकिन यदि हम व्यवहार में देखें तो स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। देश में केन्द्र तथा राज्यों में संसदीय शासन को परम्पराओं के अनुरुप विकसित होने के लिए छोड़ दिया गया है। अत: देश में संसदीय शासन प्रणाली को स्वीकार किया गया है। संसदीय शासन के परम्परानुसार केन्द्रीय-स्तर पर तथा राज्य स्तर पर दो कार्यपालक होने चाहिये। भारत में केन्द्रीय स्तर पर राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री तथा उसका मन्त्रिमण्डल क्रमश: नाममात्र एवम् वास्तविक कार्यपालक हैं। इसी प्रकार राज्य स्तर पर राज्यपाल और मुख्यमन्त्री तथा उनका मन्त्रिमण्डल क्रमश: नाममात्र और वास्तविक कार्यपालक है। संसदीय शासन में तत्सम्बन्धी स्तर पर व्यवस्थापिका होती है जिसका निर्माण जन-सामान्य द्वारा निर्वाचित सदस्यों के द्वारा होता है। अत: भारत में भी केन्द्रीय स्तर पर संसद है जिसके दो सदन हैं- लोक सभा तथा राज्य सभा। लोक सभा निम्न सदन है और राज्य सभा उच्च सदन। लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से होता है। राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष प्रणाली से होता है। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की अपनी विधान सभा तथा देश के दस राज्यों में विधान सभा के साथ-साथ दूसरे सदन विधान परिषद की भी व्यवस्था की गयी है। विधानसभा का निर्वाचन स्वयं जनता द्वारा प्रत्यक्ष रुप से तथा विधान परिषद् के सदस्यों का चुनाव परोक्ष रुप से किया जाता है।

इसी प्रकार संविधान की सुरक्षा हेतु, संघीय व्यवस्था तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण के लिए सर्वोच्च एवम् स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गयी है। सम्पूर्ण देश की सर्वोच्च न्यायपालिका देश का सर्वोच्च न्यायालय है जिसके अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय तथा जिला न्यायालय आदि है। ये न्यायालय देश में न्याय की स्थापना के लिए उत्तरदायी है तथा संविधान की सुरक्षा, केन्द्र तथा राज्यों के आपसी विवादों को सुलझाने और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा का गुरुतर भार इन्हीं के कन्धों पर है।

संसदीय शासन के साथ-साथ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है देश में संघात्मक शासन की स्थापना संविधान का प्रमुख उद्देश्य रहा है, लेकिन हमारे यहां संघात्मक शासन अपने प्रकार का है। हमने 'शक्तिशाली केन्द्र' के संघ शासन को अपनाने का प्रयास किया है। इससे भारतीय संघ में कुछ ऐसे तत्व समाहित हो गये हैं जो भारतीय संघ को एकात्मकता की ओर अधिक आकर्षित करते हैं, लेकिन 'एकात्मकता' के अधिक गुण लिए हुए संघ की स्थापना करना ही हमारे संविधान निर्माताओं की इच्छा थी और इसीलिए संविधान निर्माताओं ने कहीं भी फेडरल (Federal) शब्द का प्रयोग न कर यूनियन (Union) शब्द का प्रयोग किया है। अत: भारतीय संघ का मूल्यांकन संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाड़ा, आस्ट्रेलिया आदि देशों के संघात्मक शासन के सन्दर्भ में नहीं किया जाना चाहिये। भारतीय संघ का अध्ययन एवम् मूल्यांकन भारतीय परिवेश तथा भारतीय परिस्थितियों में ही किया जाना न्याय संगत होगा

भारत में जनतन्त्र एवम् संघवाद की प्रशासनिक चुनौतियां
(Administrative Challanges of Democracy and Federalism in India)

प्रशासन को यद्यपि स्थायी कार्यपालिका की संज्ञा दी जाती है, किन्तु संसार के सभी जनतन्त्रात्मक संविधानों में उसकी संरचना एवं भूमिका के विषय में कोई विशद् उल्लेख नहीं मिलता। संसार के अन्य संविधानों की भांति भारतीय संविधान में भी प्रशासनिक व्यवस्था के लिए कोई विशेष प्रतिमान प्रस्तुत नहीं किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जो प्रशासनिक व्यवस्था अंग्रेजी शासन ने विरासत के रुप में भारतीय प्रदेश में छोड़ी थी, उसे संविधान सभा में सामान्य वाद-विवाद के पश्चात् बिना किसी मौलिक परिवर्तन के स्वीकार कर लिया गया। सन् 1935 का अधिनियम, जिसके अन्तर्गत सीमित संसदीय जनतन्त्र और केन्द्रीकृत संघवाद भारत को दिये गये थे, मूल रुप से हमारे सांविधानिक चिन्तन का आधार बना। आदर्श और व्यवहार के बीच समन्वयवादी मध्यमार्ग ढूंढने वाले हमारे संविधान निर्माताओं ने राजनीतिक स्तर पर एक ओर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का मार्ग अपनाया तो दूसरी ओर प्रशासनिक स्तर पर वे घोर यथार्थवादी बन कर रह गये। फलस्वरुप सन् 1935 के अधिनियम को सुधारते समय बालिग मताधिकार, संसदीय सार्वभौमिकता, मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व, स्वतन्त्र न्यायपालिका, राष्ट्रपति एवं राज्यपालों की भूमिका आदि सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में मौलिक परिवर्तन किये गये, किन्तु प्रशासन के क्षेत्र में अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना तथा उनकी सेवा सुरक्षा के प्रावधान मात्र प्रस्तुत कर उसके विकास और संचालन को देश की भावी राजनीतिक व्यवस्था के निर्णयों पर छोड़ दिया गया।[1]

गत दशकों में भारतीय राजनीति का एक ऐसा सन्दर्भ और सहयोग रहा है कि प्रशासनिक विकास राजनीतिक विकास के साथ मेल नहीं खा सका है। एक और जनतान्त्रिक जागरण और विकास की आकांक्षाओं ने परम्परावादी प्रशासन के ढांचे पर नये उत्तरदायित्व डाले हैं, तो दूसरी ओर राजनीतिक दबावों के कारण बदलते हुए केन्द्र राज्य सम्बन्धों के तनाव ने प्रशासन को एक विषम स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है।[2] केन्द्र और राज्य दोनों ही स्तरों पर नीति निर्माण के प्रश्न राजनीतिक निर्धारण के प्रश्न बने रहे हैं, किन्तु फिर भी नीति और प्रशासन में किसी एक की महत्ता कम नहीं की जा सकी। जैसे-जैसे सरकार अधिक जटिल बनती जा रही है वैसे-वैसे नीति निर्माण की प्रक्रिया में प्रशासनिक महत्व उतना ही बढ़ता जा रहा है। सांविधानिक तन्त्र पर जब भी कोई संकट आता है तो प्रशासन से नयी-नयी अपेक्षाएं की जाने लगती हैं। राजनीतिक परिवर्तनों की आंधी में उसकी भूमिका के विषय में नये-नये दर्शन दिये जाते हैं, किन्तु भारतीय प्रशासन स्वयं अपनी सीमा रेखाएं बनाने और पहिचानने के प्रयास में दिक्भ्रमित सा लगता है। उसकी नयी भूमिका उसके सांविधानिक परिप्रेक्ष्य का एक सम्यक् परीक्षण चाहती है। भारतीय प्रशासन को भारतीय संविधान में प्रस्थापित संसदीय जनतन्त्र को संघवाद के परिप्रेक्ष्य में समझने एवं विश्लेषित करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय प्रशासन की जनतन्त्रात्मक सीमाओं को पहिचानते हुए केन्द्र राज्यों के बदलते हुए संघीय परिवेश में प्रशासन की भूमिका को मूल्यांकित किया जाय। इस सन्दर्भ में :—

1. केन्द्र और राज्यों के बीच प्रशासकीय सम्बन्धों के प्रावधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अनुच्छेद 256 में यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यवाही इस प्रकार से प्रयोग में लायी जायेगी कि वह केन्द्रीय संसद द्वारा निर्मित कानूनों तथा राज्य के वित्त सम्बन्धी कानूनों की व्यवस्था में बाधक सिद्ध न हो। इस दृष्टि से केन्द्र को राजकीय कानूनों की व्याख्या कर ऐसे कदम उठाने का अधिकार होगा, जिससे वह राज्यों द्वारा किये जाने वाले आवश्यक, किन्तु अनुचित कार्यों को भी रोक सके। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 250 में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक राज्य की कार्यकारी शक्ति इस प्रकार काम में लायी जायेगी कि वह केन्द्र की कार्यकारी शक्ति के मार्ग में बाधक न हो और इस दृष्टि से केन्द्र का यह अधिकार क्षेत्र है कि वह राज्यों के निर्णयों पर आवश्यक एवं समुचित निर्देश भेजे। यदि राज्य सरकारें केन्द्र की इस कार्यकारी सत्ता के प्रयोग के लिए दिये जाने वाले निदेशों की अवहेलना करती है तो अनुच्छेद 365 के अन्तर्गत उसे संवैधानिक व्यवस्था की असफलता मानी जायेगी। इसी प्रकार अनुच्छेद 365 भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार देती है कि वह ऐसी स्थिति में राज्यों की सम्पूर्ण शासन व्यवस्था स्वयं अपने हाथों में ले ले।

2. भारतीय संविधान में जिस संसदीय व्यवस्था को प्रस्तावित किया गया है, उसमें देश की संसद एक प्रतिनिधित्वपूर्ण एवं सार्वभौम संस्था है। इसके लिए संविधान में बालिग मताधिकार और चुनाव आयोग की सांविधानिक व्यवस्थाएं है,[3] और एक लिखित विधान की संरक्षिका के रुप में भारतीय न्यायपालिका से यह

आशा की जाती है कि वह संसदीय सार्वभौमिकता का सम्मान करे। इसी प्रकार संविधान एक उत्तरदायी कार्यकारिणी की व्यवस्था करता है, जो सामूहिक उत्तरदायित्व, संसद के प्रति जिम्मेदारी तथा प्रधानमन्त्री के नेतृत्व आदि के माध्यम से संसदीय लोकशाही को साकार बनाता है।[4]

3.प्रशासन उसी कार्यकारिणी की एक शाखा या यन्त्र मात्र है, जिसका उत्तरदायित्व निहित रुप में जनता के प्रति है। न्यायपालिका की दृष्टि से भी भारतीय संविधान में एक स्वतन्त्र निष्पक्ष एवं संरक्षक न्यायालय व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है जो केवल मौलिक अधिकारों की ही रक्षक नहीं, बल्कि संविधान की आत्मा की भी संरक्षक है।

4. इस दृष्टि से जिस कानून के शासन को भारतीय संविधान पवित्र मानता है वह प्रशासन की एक सीमा रेखा है और प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रुप में स्पष्ट है।[5] भारतीय संविधान के नीति-निदेशक तत्व इस जनतन्त्रात्मक व्यवस्था पर समाजवादी सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की सम्प्राप्ति की जिम्मेदारियां डालते हैं, जिन्हें अन्ततोगत्वा प्रशासन को निभाना पड़ता है।

भारतीय संविधान की चार विशेषताएं हैं :-

(1) जनतन्त्र (2) समाजवाद (3) संघवाद और (4) धर्मनिरपेक्षतावाद। इन चारों विशेषताओं वाले समाज में विकास और सामाजिक परिवर्तन का एक बदलता हुआ सन्दर्भ है।[6] एक विकासशील देश के रुप में भारतीय संविधान और भारतीय प्रशासन के सामने ऐसे कितने ही नये आयाम और दिशाएं हैं, जिनका संविधान से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जिस राजनीतिक व्यवस्था को हम जनतान्त्रिक और संघवादी बनाये रखना चाहते हैं, उससे हम यही भी अपेक्षा करते हैं कि वह देश में तीन महत्वपूर्ण कार्य करे।

(अ) शान्ति और व्यवस्था बनाये रखे, जिससे देश का जनतन्त्रात्मक राजनीतिक विकास डेमोक्रटिक पालिटिकल डवलपमेन्ट सम्भव हो सके। (डेमोक्रेटिक पालिटिकल डवलपमेन्ट)।

(ब) देश के आर्थिक विकास को त्वरित गति से आगे बढ़ाते हुए प्रगति की गति इस स्तर पर ला सके कि देश में जनतन्त्र जिन्दा रह सके और संघवाद के दबाव और तनाव राष्ट्रीय एकता को विघटित न कर सके। भारतीय संविधान में आर्थिक और सामाजिक योजना आदि विषय समवर्ती सूची में सम्मिलित किये गये हैं। अत: केन्द्र सरकार इस सम्बन्ध में एक निश्चित भूमिका निभाती है। फिर भी राज्यों के विषय-क्षेत्र जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, सिंचाई, शक्ति आदि के प्रशासन के लिए केन्द्रीय मन्त्रालयों का अपना औचित्य है। ये केन्द्रीय मन्त्रालय योजना आयोग के साथ मिलकर क्षेत्रीय लक्ष्य निर्धारित करते हैं और अपनी क्षेत्रीय प्राथमिकताओं के विषय में निर्णय लेते हैं। ये ही मन्त्रालय राज्यों की योजनाओं की भी देखभाल करते हैं और उनका अनुमोदन भेजते हैं तथा इन सभी राजकीय योजनाओं को जो कि तकनीकी दृष्टि से बड़ी जटिल हैं, आरम्भ करने की अनुमति देते हैं। केन्द्रीय मन्त्रालयों को अपनी यह भूमिका अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग ढंग से निभानी पड़ती है और ऐसा करते समय वे राज्य संगठनों को नीति-निर्माण एवं नीति-क्रियान्विति की दृष्टि से उच्च स्तरीय क्षमता बढ़ाने में सहायता प्रदान करते हैं।

(स) आर्थिक विकास किसी भी व्यवस्था में समग्र विकास की दृष्टि से केवल साधन हो सकता है साध्य नहीं। विकास की समग्रता सामाजिक परिवर्तन की सार्थकता की अपेक्षा रखती है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास इस प्रकार से नियोजित किया जाय कि पूरा का पूरा समाज राजनीतिक आधुनिकीकरण के माध्यम से वांछित सामाजिक परिवर्तन की ओर अग्रसर हो सके। सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं से अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण विकास तथा प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक परिवर्तन की लक्ष्य प्राप्ति इस दृष्टि से सम्पन्न हो सके कि आर्थिक विकास सार्थक लगे और राजनीतिक-आधुनिकीकरण (पालिटिकल-माडर्नाइजेशन) व्यवस्था को अपने गन्तव्य की ओर ले जा सके।

ये तीनों ही कार्य राजनीतिक व्यवस्था के सम्मुख नयी चुनौतियां प्रस्तुत करते हैं और प्रशासन को भी एक नया सन्दर्भ प्रदान करते हैं। इन लक्ष्यों की सम्प्राप्ति के लिए प्रशासन को भी यह समझना होगा कि चाहे उसकी वैधानिक स्थिति कुछ भी हो, उसका दर्शन (एडमिनिस्ट्रेटिव फिलासफी) उसका परिवेश (एडमिनिस्ट्रेटिव-मील्यू) तथा उसके तत्व (एडमिनिस्ट्रेटिव कन्टेन्टस) पहले जैसे नहीं रह सकते। कल्याणकारी राज्य, सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षतावाद, समाजवाद और संविधान के प्रति प्रतिबद्धता आज भी लोक-सेवा के दर्शन के रुप में भारतीय संविधान की आत्मा में अन्तर्निहित है।[7] इसी प्रकार पंचायती राज, विरोधीदल, चुनाव आयोग, न्यायालयों की रिट-व्यवस्था के परिवेश में भारतीय संविधान की जनतान्त्रिक सीमाएं चाहे

प्रशासन को हस्तक्षेप लगे, किन्तु इनका विद्यमान होना अनिवार्य है। नये लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भारतीय प्रशासन का बदलता स्वरुप, जनतन्त्र की मांग के कारण आज निम्न प्रकार से प्रभावित हो रहा है।

1. भारत में प्रशासन तन्त्र फल रहा है, और उसमें नयी-नयी इकाइयां जुड़ती जा रही हैं, जिससे कि वह कल्याण राज्य के उत्तरदायित्व को निभा सके। ढांचे का यह विस्तार (स्ट्रक्चरल प्रोलिफरेशन) संगठन के स्वरुप को 'वर्टिकल' से 'होरिजैन्टल' की तरफ मोड़ रहा है। भारत में प्रशासन के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह रहा है कि वह जनभावनाओं के अनुरुप जनतन्त्रात्मक नहीं बन सका है। इसके लिए नौकरशाही का त्रिकोणात्मक ढांचा जो मुख्यत: विभागीय है, अयोग्य एवं अक्षम पाया जा रहा है। फलस्वरुप भारतीय प्रशासन में नये-नये निगम एवं अर्ध-शासकीय आयोग, बोर्ड तथा कम्पनियों की संख्या बढ़ रही है।[8] संरचनात्मक दृष्टि से इन संगठनों में परामर्शदात्री निकाय जोड़े जा रहे हैं और निर्णयकर्त्ता प्रबन्ध यन्त्रों को अधिकाधिक बहुल बनाया जा रहा है। प्रशासनतन्त्र का यह प्रसार तथा सभी क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के प्रतिनिधियों को नीति-निर्माण में अवसर देने वाले चपटे संगठनों का आविर्भाव, जनतन्त्र के दबाव एवं प्रभाव का ही परिणाम है।

2. जनतन्त्र के बढ़ते हुए प्रसार ने भारत में समाजवाद एवं कल्याणकारी राज्य के नारे को शक्ति दी है। सामाजिक कल्याण तथा आर्थिक विकास के नये क्षेत्र विकास प्रशासन के नाम से उभर कर सामने आये हैं। इन क्षेत्रों के प्रशासन के लिए भारतीय लोकप्रशासन को व्यक्तिगत प्रशासन की कार्यकुशलता एवं उत्पादकता के साथ प्रतियोगी बनना पड़ रहा है। पुरानी विभागीय पद्धति एवं नौकरशाही का तन्त्र चरमरा कर टूट रहा है और सार्वजनिक उद्यम (पब्लिक एन्टरप्राइज) के क्षेत्र में नये-नये प्रशासनिक प्रयोग किये जा रहे हैं। जनतन्त्र का यह समाजवादी दबाव भारतीय प्रशासन की रीति-नीतियों एवं कार्मिक वर्ग आदि के प्रबन्ध प्रशासन में नयी चुनौतियां जोड़ता है।[9] जनतन्त्र की मांग है कि इस क्षेत्र का प्रशासन सार्वजनिक हित में सामाजिक एवं आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुरुप संचालित किया जाय।

3. जनतन्त्र की परिकल्पना में यह सिद्धान्त केन्द्रीय है कि उसमें जनता का स्वतन्त्र जनमत द्वारा शासन पर नियन्त्रण करने का अधिकार हो। इस प्रस्थापना में यह भावना अन्तर्निहित है कि प्रशासन भी जनतन्त्रात्मक ढंग से नियन्त्रित किया जायेगा। भारतीय संवैधानिक व्यवस्था भारतीय प्रशासन को संसद, न्यायपालिका, समाचार पत्र और यहां तक कि राजनीतिक दल और जनता के सीधे नियन्त्रण का विषय मानती है, और बनाती भी है।[10] साम्राज्यवादी युग के भारतीय प्रशासन और आज के भारतीय प्रशासन में सबसे बड़ा यही अन्तर है।

4. भारतीय-प्रशासन का अतिरिक्त स्वरुप और लोक सेवाएं भी संविधान की जनतन्त्रात्मक-प्रणाली से प्रभावित हुई हैं। संविधान में लोकसेवा आयोगों की व्यवस्था है।[11] नागरिकों को समानता का मौलिक अधिकार है।[11] कानून का शासन प्रशासन तन्त्र को योग्यता आधारित (मैरिट ओरियेन्टेड) बनाता है, और यह जनतान्त्रीकरण सेवाओं की भर्ती-व्यवस्था को बदल कर उनकी सारी भूमिका को मौलिक रुप से परिवर्तित करता है।

5. विकास और आयोजन ने भारतीय प्रशासन को आर्थिक-प्रशासन और विकास-प्रशासन (डवलपमेन्ट-एडमिनिस्ट्रेशन) के नये-नये क्षेत्र दिये हैं। इन क्षेत्रों का प्रशासन एक ओर समाजवाद और संघवाद की चुनौतियों के साथ जुड़ा हुआ है तो दूसरी ओर उसका राजनीतिक प्रशासन जनतन्त्रात्मकता के कारण काफी जटिल बनता जा रहा है।

इस प्रकार भारतीय प्रशासन और भारतीय संविधान एक दूसरे के लिए चुनौती और सीमा के रुप में देखे जा सकते हैं। संविधान, प्रशासन से नयी अपेक्षाएं करता है और साथ ही साथ उस पर नये बन्धन और सीमाएं भी आरोपित करता है। विपरीत अर्थ में प्रशासन संविधान में उल्लिखित आदर्शों और उद्देश्यों का परिसीमन भी करता है और उनकी व्यावहारिकता को सम्भव भी बनाता है। भारतीय संविधान में प्रशासनतन्त्र को मूलरुप से उसी स्थिति में रखा गया है, जैसा कि वह स्वतन्त्रता से पहले था, किन्तु भारतीय राजनीति के नये परिवेश में भर्ती की प्रणालियों तथा उत्तरदायित्व के नये दबावों के कारण उसका स्वरुप एवं व्यवहार काफी सीमा तक परिवर्तित हुआ है। भारतीय जनतन्त्र पिछले चार दशकों में जितना सशक्त हुआ है, उसका सबसे अधिक श्रेय संवैधानिक ढांचे को ही दिया जाना चाहिए। इस प्रकार प्रशासन में भी गत वर्षों में जो परिवर्तन आये हैं उनके मूल में भी संवैधानिक व्यवस्था के सिद्धान्तों को ही देखा जा सकता है, जिन्होंने राजनीतिक व्यवस्था के माध्यम से प्रशासनिक व्यवस्था और उसकी प्रक्रियाओं में अन्तर उपस्थित किये हैं।[13] भारतीय राजनीति के विद्यार्थी यह मानते हैं कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था ने गत वर्षों में केवल एक

आधार ही नहीं पाया है बल्कि एक अधिसांस्थानिक स्वरुप (इनफ्रास्ट्रक्चर) भी ग्रहण किया है, जिसके फलस्वरुप जनसाधारण और राजनीतिक दल तथा उनके नेता भारतीय प्रशासन से यह अपेक्षा करते हैं कि—

1. वह सदियों से पिछड़े एवं रुढियों से ग्रस्त इस विकासशील समाज में एक सीमित निष्क्रिय एवं व्यवस्था स्थापित रखने वाली यथास्थिति की सरकार को बदल कर उसके स्थान पर एक विशाल, सक्रिय एवं विकासोन्मुख प्रशासन का स्वप्न साकार करे।

2. इस प्रयत्न में वह राजनेताओंका सहयोगी एवं अनुगामी बने। जन-प्रतिनिधियों को परामर्श देने के साथ-साथ वह उनका आज्ञाकरी भी हो और जनतान्त्रिक नियन्त्रण के सभी उपायों के उत्तर में अनुशासित आचरण करें।[14]

3. यह तभी सम्भव होगा जबकि भारतीय प्रशासन अपनी औपनिवेशिक कार्य-प्रकृतियों से बाहर निकल कर जनतन्त्रात्मक चुनौतियों के बीच में कार्य करना सीखेगा। इसके लिए उसे बदलते समाज की बदलती आकांक्षाओं के साथ समझौता करना होगा। चुने हुए प्रतिनिधियों, राजनीतिक विरोधियों एवं उदासीन जनसाधारण के बीच रहते हुए उसे ऐसी भूमिका निभानी होगी, जो सभी को सन्तुष्ट भी रख सके और साथ ही साथ व्यवस्था एवं विकास के प्रशासनों मे तालमेल भी बिठा सके।

4. इसके लिए भारतीय प्रशासन में शासक मन्त्री और प्रशासकीय लोक सेवक के मध्य सम्बन्धों को इस प्रकार से विकसित करना होगा कि शासक दल के बदलते रहने से प्रशासकीय दक्षता एवं तटस्थता में कोई गम्भीर व्यवधान न पड़े। संसदीय व्यवस्था में यह तो मानकर ही चलना होगा कि विभिन्न प्रकार के विरोधी दल शासन में आयेंगे। उनकी बदलती हुई विरोधी नीतियों को क्रियान्वित करने में क्या उसकी तटस्थता एवं अनाम स्थिति राजनीतिक व्यवस्था को सह्य हो सकेगी। यदि तटस्थता जनतन्त्र अथवा विकास प्रशासन में सम्भव नहीं है, तो क्या प्रतिबन्द्ध प्रशासनतन्त्र ही भारतीय प्रशासन के सम्मुख एक मात्र विकल्प है ? फिर प्रतिबद्धता भी कितनी और किसके प्रति ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर ही भारत में लोक-प्रशासन की भूमिका का वैधानिक परिसिमन कर सकेगा।

5. इनके अतिरिक्त भारतीय प्रशासन संक्रमण की चुनौती को तभी स्वीकार कर सकता है जबकि उसकी सार्वजनिक लोक प्रतिमा सुधरे। जनता के साथ उसके वर्तमान शत्रुता अथवा कटुता के सम्बन्धों को यदि भारतीय प्रशासन ठीक करना चाहता है तो उसे अपनी कार्यकुशलता एवं जन सेवा का स्तर ऊंचा करना होगा। जनसाधारण प्रशासन को अपना मित्र केवल उसी स्थिति में स्वीकार कर सकता है जबकि उसका औपनिवेशिक स्वरुप एवं कार्य प्रणालियां जनतान्त्रिक उद्देश्यों की अनुरुपता में बदलें।[15]

इस प्रकार भारत में संसदीय जनतन्त्र भारतीय प्रशासन पर परिवर्तन, विकास एवं समन्वय के दबाव डालता है। इस दबाव की दो दिशाएं दृष्टव्य हैं—एक तो प्रशासक कौन हो और दूसरे वह किस तरह से क्या-क्या कार्य करे ? प्रतिनिधित्व एवं उत्तरदायित्व की ये दोनों मांगे भारतीय प्रशासन के आभिजात्य एवं नौकरशाही स्वरुप पर सीधा प्रहार करती है। जैसे-जैसे भारत में जनतन्त्र सशक्त होगा वैसे-वैसे प्रशासन के कुलीनतन्त्रीय ढांचे पर अधिकाधिक सार्वजनिक नियन्त्रण एवं उत्तरदायित्व के भार बढ़ेंगे।

भारतीय संघवाद

प्राय: यह कहा जाता रहा है कि भारतीय संविधान का ढ़ांचा संघात्मक और आत्मा एकात्मक है। यह कथन केन्द्र राज्यों के सम्बन्धों में केन्द्रीकरण की ऐतिहासिक प्रवृति को पुष्ट करने के लिए इसलिए दोहराया जाता है कि शान्ति और संकटकाल की दोनों स्थितियों में हमारी राज्य व्यवस्थाएं दुर्बल हैं। एक लिखित, कठोर, शक्ति-विभाजनकारी, द्विस्तरीय राज्य व्यवस्था में भारत के संविधान ने केन्द्र और राज्यों के बीच एक स्पष्ट बंटवारा किया है।[16] प्रशासन इस सारे केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विवाद में एक विशेष प्रकार की भूमिका निभाता है और चूँकि विधायी और वित्तीय सम्बन्ध केन्द्र को शक्तिशाली बनाते हैं, अत: स्वाभाविक है कि प्रशासकीय सम्बन्ध भी केन्द्र को राज्यों पर हावी होने में सहायता करें। विधायी सम्बन्ध केन्द्रीय सूची, समवर्ती सूची और अवशिष्ट विषयों को केन्द्र को देते हैं। केवल 66 विषय जो राज्य-सूची में हैं, उनका प्रशासन राज्यों को मिला है और इन 66 में से भी केन्द्र जब चाहे राज्य सभा के माध्यम से कोई भी विषय छीन सकता है।[17] संकटकालीन स्थिति में इन सारे विषयों का प्रशासन केन्द्र यदि चाहे तो स्वयं सम्हाल सकता है या ऐसी स्थिति में रखता है जहां केन्द्रीय प्रशासन राजकीय प्रशासन की तुलना में अधिक शक्तिशाली लगता है। संघात्मक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन संवैधानिक व्यवस्था

की एक केन्द्रीय विशेषता मानी जाती है। राज्यों के क्षेत्र में जबकि अन्य संघों में शक्ति और स्वायत्तता का विचार पर्याप्त स्पष्ट नहीं है तब यह मानना होगा कि भारतीय संघ निश्चित रुप से केन्द्र प्रधान है और संघ शासन को एक विशिष्ट भूमिका प्रदान करता है। केन्द्र का वर्चस्व इस बात से प्रमाणित होता है कि भारतीय संविधान की सातवीं सूची में 'शिड्यूल्ड विषयों' को केन्द्रीय सूची में अधिकतर महत्वपूर्ण विषय के रूप में सम्मिलित किया गया है। अतः समवर्ती सूचीपर भी केन्द्र की प्रधानता स्वीकार की गयी है और केन्द्रीय सूची के विषयों पर भी केन्द्र का एकाधिकार है। इसके अतिरिक्त धारा 352 से 360 तक संविधान में जिस आपातकाल व्यवस्था का प्रावधान है उसके अन्तर्गत भी संवैधानिक व्यवस्था की असफलता की स्थिति में केन्द्र स्थायी रूप से शासन व्यवस्था सम्भाल सकता है और यह स्थिति यहां तक बढ़ सकती है कि यदि इससे राष्ट्रीय सुरक्षा को कोई गम्भीर खतरा उत्पन्न हो जाता है तो राष्ट्रीय आपातकाल व्यवस्था द्वारा स्वयं संघवाद को ही निलम्बित किया जा सकता है। अनुच्छेद 55 के अन्तर्गत केन्द्र का यह कर्त्तव्य है कि वह बाहरी आक्रमणों एवं आन्तरिक विप्लवों से राज्यों की रक्षा करे और इस बात की भी व्यवस्था करे कि राज्यों का शासन संविधान के अनुरुप चल सके। ऐसे ही कुछ संवैधानिक प्रावधान राज्यों की स्वायत्तता को हर स्तर पर भयभीत करते रहते है।

यद्यपि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक उच्चकोटि की केन्द्रीय एवं एकात्मक शासन प्रणाली स्थापित कर दी थी, फिर भी बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यह बराबर अनुभव किया जा रहा था कि भारत जैसे विशाल देश के लिए जहां जातियों, धर्मों और भाषाओं की विविधता विद्यमान है, केन्द्रीकरण किसी भी स्थिति में उपयुक्त नहीं होगा। मोण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भारत को राज्यों के एक संघ के रुप में संगठित करने की चर्चा की गयी थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भी भारत को एक संघ के रूप में संगठित करने की बात को एक बार फिर दोहराया गया। सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया, लेकिन देशी राज्यों के असहयोग के फलस्वरुप इस संघ का प्रादुर्भाव नहीं हो सका। स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माताओं ने संघवाद को देश के नये संविधान के ढांचे में एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।

यद्यपि भारतीय संविधान ने भारत में संघीय व्यवस्था की स्थापना की है, परन्तु उसमें कहीं भी फेडरेशन शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। वस्तुतः संविधान में भारत को 'राज्यों की यूनियन' कहकर पुकारा गया है। प्रारुप समिति के अध्यक्ष डा० भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा के समक्ष इस शब्दावली के प्रयोग से प्राप्त होने वाले लाभों की व्याख्या की थी। उन्होंने कहा था कि इस शब्दावली से दो महत्वपूर्ण तथ्यों की अभिव्यक्ति होती है (क) प्रथम, भारत में संघवाद इकाइयों के बीच किसी समझौते का परिणाम नहीं है और (ख) द्वितीय, संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों को उससे पृथक होने का अधिकार नहीं है। वस्तुतः भारत में संघ की रचना एकात्मक राज्य के पुनर्संगठन के द्वारा हुई है, स्वतन्त्र और सम्प्रभु राज्यों के बीच हुए किसी संविदा के परिणामस्वरुप नहीं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह राज्यों का एक स्थायी संघ होता। परन्तु इसका आशय यह भी नहीं है कि भारत की शासन प्रणाली संघात्मक नहीं है। यथार्थ में उसके संघवादी लक्षणों को अत्यधिक स्पष्ट रुप से अवलोकित किया जा सकता है—

1. सर्वप्रथम, उसमें संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का बटवारा हुआ है। इसके लिए तीन सूचियां निर्मित की गयी हैं : संघ-सूची, राज्य-सूची तथा समवर्ती-सूची। इन सूचियों पर केन्द्र और राज्य, दोनों के कार्य क्षेत्र को पहले से ही परिभाषित कर दिया गया है। साधारणतः राज्य अपने निश्चित क्षेत्र में संघ-सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त हैं।

2. दूसरे संविधान को राज्य का सर्वोच्च कानून माना गया है। उसके प्रावधान सभी सरकारों के लिए बाध्यकारी हैं। न तो केन्द्र सरकार उनका अपवाद हो सकती है और न ही राज्य सरकारें। इसका अर्थ यह भी हुआ कि उपर्युक्त दोनों प्रकार की सरकारों को संविधान में उल्लिखित शक्तियों के विभाजन को अपनी इच्छा के अनुसार बदलने का अधिकार नहीं है।

3. तृतीय, भारतीय संविधान एक लिखित अभिलेख है और एक सीमा तक दुसंशोध्य भी।

4. चतुर्थ, भारत में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका व्यवस्था है और उसे संविधान की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों को केन्द्रीय संसद अथवा राज्य विधान मण्डलों द्वारा पारित किसी भी कानून को इस आधार पर अवैध घोषित करने का अधिकार है कि उसके द्वारा संविधान की किसी व्यवस्था का उल्लघंन होता है।

परन्तु हमारे संविधान में संघात्मक व्यवस्था को उस रुप में स्वीकार नहीं किया गया, जिस रुप में उसे अन्य संघ राज्यों में माना गया है। वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरुप के विषय में वाद-विवाद बना लिया है, उसी प्रकार अथवा उससे भी कहीं अधिक उसके संघीय स्वरुप के विषय में विवाद है और यह विवाद 1950 से, (जबसे संविधान बना उस समय से) अब तक बराबर चला आ रहा है और इस विवाद का मुख्य बिन्दु यह है कि भारतीय संघीय व्यवस्था वास्तव में संघीय है अथवा नहीं। के० सी० व्हीयर को मोटे रुप से इस विवाद का जन्मदाता कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने इस विषय में सन्देह व्यक्त किया है कि भारतीय संघ वास्तव में संघीय है। इस सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण सामने आये हैं उन्हें मोटे रुप से दो भागो में विभक्त किया जा सकता हैं :

1. वैधानिक एवं संस्थागत विचारधारा (लीगल स्ट्रक्चरल एंगल)
2. व्यावहारिक विचारधारा (इम्पीरिकल एंगल)

जहां तक कानूनी ढांचे से सम्बन्धित दृष्टिकोण का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि हमारा संघ संघीय है, यद्यपि उसकी संघीयता की मात्रा के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है। श्री के० सी० व्हीयर एलेक्जेन्ड्रोविच एवं डीन पाल एपलबी इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाले प्रमुख विदेशी विद्वान है। के० सी० व्हीयर ने कहा है कि भारतीय संघ अधिक से अधिक अर्ध संघ है। उनकी यह विचारधारा हमारे संविधान के सैद्धान्तिक अध्ययन पर आधारित है। इसके विपरीत एलेक्जेन्ड्रोविच का कहना है कि अर्धसंघ का विचार ही दोषपूर्ण है, या तो कोई राजनीतिक व्यवस्था संघीय है, या है ही नहीं। एलेक्जेन्ड्रोविच की धारणा है कि भारतीय संघ कानूनी दृष्टि से पूर्ण संघ है, क्योंकि जो तत्व या लक्षण संघीय व्यवस्था में पाये जाते हैं, वे सभी लक्षण भारतीय व्यवस्था में स्पष्टता से पाये जाते हैं, परन्तु इन सब तर्कों के बाद उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि भारत में राज्यों की तुलना में केन्द्र का पक्ष अधिक शक्तिशाली है। इन दोनों धारणाओं के विपरीत एपलबी ने संवैधानिक ढांचे पर दृष्टिपात करते हुए कहा है कि भारत में देखने में तो केन्द्र अधिक शक्तिशाली दिखायी देता है, परन्तु वास्तव में, राज्यों की शक्तियां भी कम नहीं है। उनकी मान्यता है कि यदि राज्य यह निश्चित करलें कि उन्हें केन्द्र की नीतियों का कार्यान्वयन नहीं होने देना है तो केन्द्र को अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। मोरिस जोन्स, मारकस फ्रान्डा एवं श्री अशोकचन्दा ने भारतीय संघ व्यवस्था का अध्ययन विशेषकर नियोजन के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। इन लेखकों की यह धारणा है कि नियोजन के फलस्वरुप भारत में न केवल संघीय व्यवस्था का ही अन्त हो गया है अपितु संसदीय प्रणाली भी समाप्त प्राय: लगती है। मोरिस जोन्स ने लिखा है कि भारत में केवल कापरेटिव फेडरलिज्म है और इस सहयोगी संघवाद में से एक सौदेबाजी की ध्वनि भी निकलती है। (कापरेटिव फेडरलिज्म विद बारगेनिंग इज इट्स की नोट) मारक्स फ्रेण्डा ने भारतीय संघीय व्यवस्था का व्यावहारिक अध्ययन कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारत में संघीय व्यवस्था का कोई एक स्वरुप नहीं है, बल्कि उसके विभिन्न स्वरुप हैं। विभिन्न राज्यों के सन्दर्भ में संघीय व्यवस्था ने एक गतिशील स्वरुप धारण किया है और यह गतिशीलता इस सीमा तक है कि एक ही राज्य में भी भिन्न-भिन्न समयों पर संघीय व्यवस्था के विभिन्न स्वरुप रहे हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सन् 1935 के अधिनियम में भारत में संघीय व्यवस्था की कल्पना की गयी थी। इससे पहले भी अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण के माध्यम से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था संघवाद की ओर बढ़ रही थी। सन् 1935 के एकट में जिस संघीय व्यवस्था की कल्पना की गयी थी उसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रबल थी क्योंकि अंग्रेजों को यह भय था कि भारत में साम्राज्यवादी हित उसी समय तक सुरक्षित रह पायेंगे जब तक कि केन्द्रीय व्यवस्था मजबूत रहेगी। इसीलिए गर्वनर जनरल का पद 1935 के एक्ट में सर्वाधिक शक्तिशाली रखने की व्यवस्था की गयी थी। यह भी धारणा थी कि साम्प्रदायिक समस्याओं पर नियन्त्रण रखने के लिए भी शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इस प्रकार से एक शक्तिशाली केन्द्र प्रधान संघ की परम्परा 1935 के एक्ट के माध्यम से संविधान सभा तक पहुंची और संविधान सभा का भी यही निर्णय रहा कि स्वतन्त्र भारत को एक शक्तिशाली केन्द्र की महती आवश्यकता है। उनके इस विचार को देश के विभाजन ने और भी अधिक प्रासांगिक बनाया। उन्होंने यह पाया कि देश के विभिन्न भागों

में जो समस्याएं भूत काल में रही हैं अथवा वर्तमान को विरासत में मिली है वे देश के निर्माण के लिए खुली चुनौतियां है। उनसे निपटने हेतु एक शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता थी। संविधान निर्माताओं के समक्ष (क) आर्थिक-विकास (ख) सुरक्षा और (ग) राष्ट्रीय एकता तीन व्यापक उद्देश्य थे, और इन तीनों उद्देश्यों की प्राप्ति शक्तिशाली केन्द्र के बिना असम्भव थी। इसीलिए हमारे संविधान में संघ शब्द का प्रयोग न कर उसके स्थान पर "यूनियन" शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि संविधान निर्माता राष्ट्रीय एकता को प्रधान लक्ष्य लेकर चले थे। इसके लिए केन्द्र का शक्तिशाली होना ही पर्याप्त नहीं था बल्कि केन्द्र और राज्यों के बीच एक सहयोगी भावना की भी आवश्कयता थी। दूसरे शब्दों में उनकी कल्पना एक सहयोगी संघवाद की परिकल्पना थी, जिसमें केन्द्र और राज्य प्रतिद्वन्द्वी न होकर सहयोगी के रुप में केन्द्र के तत्वाधान में कार्य करें।

इसी प्रकार भारत की संविधान निर्मात्री सभा पर नेहरु रिपोर्ट का भी प्रभाव पड़ा था, जिसमें भारत के बहुल समाज के पक्ष को उभारा गया था और यह कहा गया था कि भारत जैसे विशाल देश में जहां विभिन्न धर्म, भाषाएं, जातियां है और विशाल जनसंख्या है, उसमें केवल संघीय व्यवस्था ही सफल हो सकती है। एक ऐसी संघीय व्यवस्था जिसका उद्देश्य विभिन्नता में एकता स्थापित करना हो। संविधान-निर्मात्री सभा ने भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया और इस प्रकार से संविधान सभा में यह विचारधारा बनी कि भारत को न केवल एक राजनीतिक संघ की आवश्यकता है, अपितु एक सांस्कृतिक संघ भी यहां उपयोगी होगा। हमारे संघ का सांस्कृतिक पक्ष आगे चल कर उस समय और भी प्रबल हुआ जबकि 1956 में नेहरु सरकार को भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करना पड़ा।

संघवाद का औचित्य

साइमन कमीशन रिपोर्ट, नेहरु रिपोर्ट तथा संविधान सभा में दिये गये भाषणों का यदि गंभीरता से अध्ययन किया जाय तो यह पता चलता है कि भारत में संघीय व्यवस्था की अपनी वांछनीयता है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारत में संघीय व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था के स्थान पर जिन कारणों से प्राथमिकता दी उनमें से कुछ निम्नलिखित है :-

1. इतिहास का अनुभव यह बतलाता है कि एक केन्द्रीय स्थान से इतने बड़े देश का और इतने विशाल जनसमूह वाले देश का शासन कुशलतापूर्वक संचालित नहीं किया जा सकता, विशेषकर उस समय जबकि देश में विदेशी सत्ता न होकर स्वशासन हो और वह भी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर कल्याणकारी राज्य की प्राप्ति के लिए।

2. एक दूसरा कारण जिसके लिए संघ की स्थापना आवश्यक समझी गयी थी, देश के समाज का बहुलवादी स्वरुप—जिसमें यह सोचा गया कि भाषा, धर्म, जाति आदि कि विभिन्नता के कारण यह आवश्यक है कि भारत में संघीय-व्यवस्था हो, जिससे एकता के साथ-साथ सांस्कृतिक विभिन्नता भी फलीभूत हो सके। इस सन्दर्भ में सोचते समय संविधान निर्माताओं के समक्ष रुस के संविधान का नमूना था जहां की व्यवस्था के बारे में यह कहा जाता है कि वहां राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से तो एकात्मक सरकार है, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से संघीय व्यवस्था है।

3. यह भी सोचा गया कि यदि राज्यों में पृथक-पृथक सत्ता सम्पन्न सरकारें होंगी तो इससे शक्ति का विकेन्द्रीकरण सम्भव हो सकेगा और प्रजातन्त्र को बल मिलेगा। जनता के शासन में भाग लेने के अवसर बढ़ेंगें और जनतान्त्रिक नेतृत्व फलेगा-फूलेगा।

4. आर्थिक विकास के लिए भी आवश्यक माना गया कि सम्पूर्ण देश के विभिन्न भागों का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त करने के लिए सत्ता के विभिन्न केन्द्रों के साथ एक संघात्मक साझेदारी की व्यवस्था प्रभावशील एवं उत्तम होगी। संघवाद के इस औचित्य को चुनौती देने वाले आलोचकों का कहना है कि आर्थिक विकास के लिए जिस केन्द्रीय व्यवस्था और केन्द्रीय नियन्त्रण की आवश्यकता होती है वह संघीय व्यवस्था में बहुधा सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि इस व्यवस्था में निर्णय के केन्द्र बिखर जाते हैं। किन्तु केन्द्रीकरण की इस वकालत का प्रत्युत्तर देते हुए स्वयं श्री नेहरु ने संविधान सभा में कहा था कि राष्ट्रीय आधार पर नियोजन और संघीय व्यवस्था का सह-अस्तित्व सम्भव है और उनके समन्वय द्वारा ही देश आर्थिक एवं राजनीतिक विकास के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। यह भी कहा गया कि संकटकालीन परिस्थितियों में संघीय व्यवस्था औचित्यपूर्ण नहीं होगी। भारत में घरेलू संघ की सम्भावनाएं अधिक मात्रा में थीं। अत: जब इस व्यवस्था

को देश की परिस्थितियों के प्रतिकूल बतलाया गया तो अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर ने संविधान सभा में कहा कि हमने अपने संविधान में संकटकालीन परिस्थितियों के लिए व्यवस्था की है और इस व्यवस्था के साथ हमारी संघीय शासन प्रणाली संकटों की चुनौती को झेल सकेगी। उन्होंने आगे कहा कि आर्थिक विकास और देश की सुरक्षा की मांग की दृष्टि से संघीय-व्यवस्था के अर्न्तगत एक शक्तिशाली केन्द्र की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

संघवाद का कानूनी स्वरुप

जब किसी भी संघीय व्यवस्था की कानूनी संरचना (स्ट्रक्चर) की बात की जाती है तो उसकी भूमिका के रुप में संघीय-व्यवस्था के लक्षणों को दोहराया जाता है। ये लक्षण मोटे रुप से दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं : (अ) मुख्य और (ब) गौण। मुख्य लक्षणों में भी जिन तीन लक्षणों पर बल दिया जाता है, वे हैं-

1. संविधान की सर्वोच्चता
2. शक्ति वितरण और
3. न्यायालय की सर्वोच्चता।

इसी प्रकार गौण लक्षण है:-

(अ) संघीय संशोधन-प्रणाली

(ब) संघीय द्वितीय-सदन।

(1) संविधान की सर्वोच्चता—संविधान की सर्वोच्चता से अभिप्राय यह है कि संविधान को केन्द्र और राज्य दोनों की शक्तियों का उद्गम माना जाय। हमारे संविधान में केन्द्रीय सरकार और राज्यों की सरकारों को संविधान के माध्यम से शक्तियां प्रदान की गयी हैं। इस दृष्टि से केन्द्र और राज्य दोनों के स्वतन्त्र संविधानिक व्यक्तित्व है, और वे संविधान द्वारा संरक्षित हैं। संविधान की सर्वोच्चता से दूसरा अभिप्राय यह है कि संविधान लिखित और अचल होना चाहिए जिसे साधारण संशोधन प्रणाली द्वारा इस प्रकार न बदला जा सके जिस प्रकार अन्य साधारण कानून बनते तथा संशोधित होते हैं। इसका लिखित होना इसलिए आवश्यक है कि परिभाषा की दृष्टि से संघीय व्यवस्था को एक समझौता प्रधान सरकार कहा जाता है। समझौतों की शर्तों का लिखा होना इसलिए आवश्यक है कि दोनों सरकारों (केन्द्रीय सरकार तथा इकाई राज्यों की सरकारें) में मतभेद उत्पन्न होने की स्थितियों में शर्तों का अवलोकन कर समस्याओं का समाधान ढूंढा जा सके। भारतीय संविधान लिखित है। उसकी संघीय व्यवस्था में शक्तियों का बंटवारा किया गया है। इसके संशोधन की भी एक विशेष प्रणाली है, जो साधारण प्रणाली से भिन्न है। संविधान के सर्वोच्च होने का तीसरा अभिप्राय यह है कि संविधान की सर्वोच्चता संरक्षित होनी चाहिए अर्थात् संविधान की सर्वोच्चता केन्द्र और इकाई दोनों को मान्य होनी चाहिए। ऐसी व्यवस्था होनी आवश्यक है कि यदि इस मान्यता को कोई भंग करे तो उसे रोका जा सके। भारतीय संविधान में न्यायालय के संरक्षण के माध्यम से संविधान की सर्वोच्चता को सुरक्षित बताया गया है।

(2) शक्ति वितरण—भारतीय संविधान में शक्ति-वितरण की भी एक विस्तृत व्यवस्था की गई है। संविधान में शक्ति-वितरण के लिए सूची-सिद्धान्त को अपनाया गया है। यह सिद्धान्त 1935 के एक्ट से उधार लिया गया है। राष्ट्रीय महत्व के विषय, केन्द्रीय सूची के अन्तर्गत रखे गये हैं। स्थानीय महत्व के विषयों को राज्य सूची के अधीन रखा गया है। कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर राज्यों को इन विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने और उनको लागू करने का अधिकार है। कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत वे विषय आते हैं, जो कभी-कभी या कुछ मात्रा में सारे देश के लिए समान रुप से आवश्यक हो सकते हैं पर साथ ही जिनके विषय में राज्यों के सन्दर्भ में विभिन्न कानून एवं नीतियां भी आवश्यक हो सकती है। इन विषयों को 'समवर्ती' सूची में रखा गया है। इसके लिए केन्द्र और राज्य दोनों कानून बना सकते हैं और लागू भी कर सकते हैं परन्तु यदि केन्द्र और राज्यों के कानूनों में विरोध हो तो केन्द्र का कानून मान्य समझा जाता है। उपर्युक्त तीनों सूचियों में जिन विषयों को नहीं गिनाया गया है और जो भविष्य में जन्म ले सकते हैं ऐसे अवशिष्ट विषयों पर कानून बनाने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को है।

उपर्युक्त विधायी शक्तियों के अतिरिक्त प्रशासनिक और आर्थिक शक्तियों के बंटवारे की भी व्यवस्था की गयी है। प्रशासकीय शक्तियों में केन्द्र राज्यों की प्रशासकीय सेवाओं पर काफी मात्रा में निर्भर है। इससे

एपलबी की इस आलोचना को बल मिलता है, कि केन्द्र को यदि राज्यों का सहयोग प्राप्त न हो तो भारत में केन्द्र की नीतियों की क्रियान्विति सम्भव नहीं हो सकती।

वितीय-शक्तियों के बंटवारे में राज्यों को सीमित अधिकार प्राप्त हैं। यह कहा जाता है कि वे विषय जिन पर राज्य कर लगा सकता है वे अधिक लचीले नहीं है और इसलिए उनसे आमदनी अधिक नहीं हो सकती। इसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि राज्यों को जो उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं, उनमें व्यय अधिक होता है, आय कम। ऐसी स्थिति में राज्यों की आमदनी और व्यय में असन्तुलन पाया जाना और राज्यों का केन्द्र पर निर्भर होना स्वाभाविक है। इससे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। कुछ ऐसी और परिस्थितियां भी हैं जिनमें केन्द्र का हस्तक्षेप राज्यों की शक्ति-वितरण व्यवस्था में हेर-फेर कर सकता है। ये परिस्थितियां हैं—

(क) राज्य सभा यदि अपने दो-तिहाई बहुमत से यह घोषित कर दे कि कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का बन चुका है—(यद्यपि वह संविधान में राज्य सूची में दिया गया है) तो वह राज्य सूची से समवर्ती सूची में चला जायेगा, अर्थात् केन्द्र और राज्य दोनों उसके सम्बन्ध में कानून बना सकेंगे।

(ख) दूसरे, यदि दो या दो से अधिक राज्य यह चाहें कि किसी ऐसे विषय जो राज्य सूची में दिया गया है, केन्द्र को कानून बनाना चाहिए, तो केन्द्र सरकार ऐसा कर सकता है, परन्तु यह कानून केवल प्रार्थी राज्यों पर ही लागू होगा।

(ग) तीसरी स्थिति यह हो सकती है जबकि केन्द्रीय सरकार ऐसे क्षेत्रों तथा विषयों में जो केन्द्र की शक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप में सम्बन्धित हैं राज्यों को उचित व्यवस्था का आदेश दे सकती है जैसे राष्ट्रीय मार्गों की व्यवस्था के सम्बन्ध में, उन विषयों के सम्बन्ध में जो प्रतिरक्षा सेनाओं के प्रबन्ध के लिए आवश्यक हों, केन्द्र की सम्पत्ति के संरक्षण के सम्बन्ध में तथा राज्यों में कार्य करने वाले केन्द्रीय कर्मचारियों के सम्बन्ध में। इनके विषय में यह कहा गया कि यद्यपि केन्द्र को ऐसे अधिकार प्राप्त होने चाहिए, परन्तु इनके माध्यम से केन्द्र के हस्तक्षेप के साधन बढ़ जाते हैं। यहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि केन्द्र इन क्षेत्रों में क्या-क्या आदेश दे सकता है।

(घ) अन्त में, संकटकालीन परिस्थितियों में भारतीय संविधान में केन्द्र को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य सूची और समवर्ती सूची दोनों सूचियों के सम्बन्ध में कानून बनाये और उन्हें लागू करवाये।

3. **न्यायलय की सर्वोच्चता**—भारतीय संघ-व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय को संघीय न्यायालय का स्थान दिया गया है और इस दृष्टि से वह संविधान का संरक्षक है। इस संरक्षण सम्बन्धी कार्य को पूरा करने के लिए उसे न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्रदान किया गया है, जिसका व्यवहार करते समय वह अमेरिका की भांति 'ड्यू प्रोसस आफ ला' के अनुसार कार्य न करके "प्रोसीजर्स एस्टेबलिश्ड बाइ ला" के अनुसार कार्य करता है।

संविधान में केन्द्र और राज्यों की शक्तियों के बीच जो शक्ति विभाजन किया गया है, सर्वोच्च न्यायालय उसमें सन्तुलन स्थापित करता है अर्थात् संविधान में जिस केन्द्र प्रधान सन्तुलन की स्थापना की गयी है वह उसे बनाये रखने का प्रयास करता है। वह अपनी शक्तियों के दायरे में रहते हुए यह देखता है कि केन्द्र राज्यों के अधिकार क्षेत्रों में कोई इस्तक्षेप तो नहीं करता।

इस व्यवस्था की यह आलोचना की गयी है कि संकटकालीन परिस्थितियों में उच्चतम न्यायालय संविधान का संरक्षण नहीं कर सकता। इससे यह सम्भावना बनती है कि संकटकालीन परिस्थितियों का सहारा लेकर केन्द्र राज्यों के अधिकार क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप कर सकता है। अत: आलोचकों का कहना है कि इस सन्दर्भ में अमेरिका की व्यवस्था हमारे लिए अधिक उपयोगी होती, क्योंकि वहां की न्यायिक व्यवस्था भारतीय न्यायिक व्यवस्था की तुलना में अधिक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली है।

गौण लक्षण

संघीय व्यवस्था के उपर्युक्त तीन मुख्य लक्षणों के अतिरिक्त निम्न दो गौण लक्षण निम्न प्रकार से और बतलाये जा सकते हैं—

(1) संविधान में संघीय संशोधन प्रणाली की व्यवस्था

इससे अभिप्राय यह है कि राज्यों के अस्तित्व के विषय में उनकी इच्छानुसार संविधान संशोधन की

भूमिका हो । यह लक्षण आंशिक रूप में हमारे संविधान में पाया जाता है क्योंकि केवल कुछ ही विषयों के सम्बन्ध में आधे से अधिक राज्यों की सहमति की आवश्यकता है । इस व्यवस्था में :-

(1) राज्य संशोधन का प्रस्ताव नहीं रख सकते,
(2) प्रत्येक विषय पर उनकी स्वीकृति भी आवश्यक नहीं है ।
(3) कुछ ऐसे विषय भी हैं जिनका सम्बन्ध उनके आधिपत्य से है ।

परन्तु फिर भी केन्द्रीय संसद अपने साधारण बहुमत से इन विषयों में संशोधन कर सकती है, जैसे-राज्यों की सीमाएं, क्षेत्र, नाम आदि ।

परन्तु भारत के सन्दर्भ में जैसा कि अम्बेडकर ने संविधान सभा में बतलाया था कि ऐसा करना आवश्यक था क्योंकि राज्यों के रुप में देश का बंटवारा किसी वैज्ञानिक आधार पर न होकर इतिहास की संयोगजन्य घटनाओं के आधार पर हुआ था । इसलिए यदि संशोधन राज्यों पर छोड़ दिये जाते हैं, तो सम्भवत: इन्हें लागू करने में अनेक कठिनाइयां आ सकती हैं ।

संघीय द्वितीय सदन

इससे अभिप्राय यह है कि केन्द्र में द्विसदनीय व्यवस्था होनी चाहिए और उसके उच्च सदन में अमेरिका की भांति सभी राज्यों में बराबर-बराबर प्रतिनिधित्व होना चाहिए । यह द्वितीय सदन इस बात का प्रतीक है कि संघीय कुटुम्ब में सभी राज्यों का स्तर समान है । परन्तु हमारे संविधान में ऐसा नहीं है । राज्यों से द्वितीय सदन में आने वाले प्रतिनिधि जनसंख्या के आधार पर चुनकर आते हैं । इसके विपरीत यू० एस० ए० में छोटे बड़े सभी राज्यों को सीनेट के लिए बराबर प्रतिनिधि (चाहे वह छोटा हो या बड़ा) भेजने होते हैं । भारत में अमेरिका की व्यवस्था से भिन्न स्वयं का अपना एक अनूठा तरीका है । संविधान निर्माताओं ने अमेरिकी पद्धति को इसलिए नहीं अपनाया कि इससे छोटे बड़े राज्यों को असन्तुलित प्रतिनिधित्व मिलता है और इससे नीति और व्यवहार में भी असन्तुलन पैदा होता है । भारत ने इस अनुभव से फायदा उठाकर इस असन्तुलन की स्थिति से बचना चाहा है । परन्तु फिर भी कुछ आलोचक यह कहते हैं कि यह संघीय व्यवस्था के विपरीत है । राज्य सभा को राज्यों की सभा कहना उसे एक गलत संज्ञा प्रदान करना है ।

इस प्रकार हमारे संविधान के कानूनी ढांचे (लीगल फोरमल स्ट्रक्चर) में यद्यपि केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट है, परन्तु उसे के० सी० व्हीयर के शब्दों में अर्द्ध संघ कहना भी समीचीन नहीं लगता ।

संघवाद का व्यावहारिक स्वरूप

अब तक संघवाद के जो व्यावहारिक अध्ययन हुए हैं उन सभी से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारा संघवाद सहयोगी संघवाद का प्रतीक है । इस सहयोगी संघवाद में राज्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए केन्द्र से अधिक से अधिक सौदा करना चाहते हैं, किन्तु यह सौदा उस सीमा से आगे नहीं बढ़ता जिसमें सहयोग की सम्भावना ही समाप्त हो जाय और सम्बन्ध विच्छिन्न होने की स्थिति आ जाये। इस व्यवस्था में जहां तक नीति सम्बन्धी निर्णयों का प्रश्न हैं उसमें केन्द्र का पलड़ा भारी दिखायी देता है, परन्तु जहां इन निर्णयों को कार्यान्वित करने की बात आती है वहां राज्यों की भूमिका प्रबल बन जाती है। इस प्रकार जो समग्र चित्र उभरता है उसमें ऐसा लगता है कि अन्तिम सहयोग की स्थिति में कभी केन्द्र का पलड़ा भारी हो जाता है तो कभी राज्यों का इसलिए सामान्यत: यह नहीं कहा जा सकता कि हर परिस्थिति में केन्द्र ही शक्तिशाली रहता हो या राज्यों की स्थिति भारी रही हो । मारकस फ्रेण्डा ने इस सन्दर्भ में कहा है कि व्यवहार में भारत में संघवाद का कोई एक स्वरुप न होकर अनेक स्वरुप दिखलायी देते हैं क्योंकि केन्द्र के विभिन्न राज्यों से भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं ।

संघवाद का जो व्यावहारिक स्वरुप भारतवर्ष में गत चार दशकों में उभरा है उसकी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दिशाएं प्रधान रही हैं । ये तीनों ही दिशाएं एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं, यद्यपि इनमें सर्वाधिक निर्णयकारी भूमिका राजनीतिक तत्वों की रही है ।

भारतीय संघवाद के राजनीतिक पक्ष को स्पष्ट करने का श्रेय मारकस फ्रैण्डा को है । उन्होंने केन्द्र और पश्चिमी बंगाल के सम्बन्धों का व्यापक अध्ययन कर निष्कर्ष रुप में वे राजनीतिक तथ्य हमारे सामने रखे, जिनसे भारत की संघ व्यवस्था गम्भीर रुप से प्रभावित होती है । उनका यह अध्ययन उस समय से सम्बन्धित

है जब पश्चिमी बंगाल में डा० बी० सी० राय मुख्य मन्त्री थे और श्री नेहरु केन्द्र में प्रधान मन्त्री। दोनों ही नेता अपने अपने क्षेत्रों में शक्ति की दृष्टि से अपनी-अपनी चरम सीमाओं पर थे। उन्होंने बतलाया है कि श्री० बी० सी० राय श्री नेहरु के साथ अपने राज्य के पक्ष में आसानी से सौदा किया करते थे जबकि बिहार के मुख्य मन्त्री राजनीतिक दृष्टि से प्रभावशाली न होने के कारण ऐसा नहीं कर सके।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कानूनी ढांचा चाहे कुछ भी हो केन्द्र एवं राज्य में उपलब्ध राजनीतिक परिस्थितियों से ही यह निश्चित होता है कि किसी भी संघ का व्यावहारिक स्वरुप क्या होगा ? भारतीय संघवाद के अब तक अनेक व्यावहारिक अध्ययन हो चुके हैं। इन अध्ययनों के आधार पर जो निष्कर्ष सामने आये हैं, वे इस ओर संकेत करते हैं कि दलीय व्यवस्था, राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय नेतृत्व, दबाव समूहों की प्रभावशालिता तथा राज्यों की राजनीतिक स्थिति आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण राजनीतिक तत्व है जो भारतीय संघवाद को विशेष रुप से प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां भी भारत में संघवाद के ढांचे एवं सम्बन्धों को अपने ढंग से बदल रही हैं। चूंकि भारत में प्रत्येक राज्य की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न हैं, अतः उनके केन्द्र के साथ सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। कुल मिलाकर भारत में संघवाद का कोई एक स्वरुप न होकर, उसके अनेक स्वरुप हैं। ये स्वरुप समय, परिस्थिति एवं परिवर्तन के नये तत्वों और दबावों के साथ बदलते रहते हैं। क्षेत्रीयता अथवा स्वायतत्ता की जब भी कोई मांग बलवती होती है तो राष्ट्रीय एकीकरण की आवाजे उठने लगती हैं। पृथकतावाद एवं विखण्डन की चुनौतियों का सामना करने के लिये वैसे तो भारतीय संविधान में संकटकालीन प्रावधानों की व्यवस्था है, किन्तु सामान्य रुप से संविधान इस दिशा में इतना सचेष्ट है कि प्रतिरक्षा सेनाओं, प्रशासकीय सेवाओं, न्यायपालिका की प्रक्रियाओं तथा आर्थिक नियोजन एवं विकास के निर्णयों को केन्द्र के पास सुरक्षित रख भारतीय संविधान ने संघीय विकेन्द्रीकरण की प्रवृति को सीमित करने का प्रयास किया है। संघीय सम्बन्धों एवं संघीय दबावों के समक्ष राष्ट्रीय एकता अक्षुण्ण रह सके इसके लिये भारतीय संविधान भारतीय प्रशासन को भारतीय संघवाद के सन्दर्भ में एक विशेष भूमिका में प्रस्तुत करता है। प्रशासन की यह भूमिका ऐतिहासिक होने के साथ-साथ अनूठी भी है और प्रशासनिक सेवाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे केन्द्र राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों द्वारा राजनीतिक दबावों एवं तनावों के बीच सन्तुलन स्थापित करें।

भारतीय संविधान के भाग 14 में अनुच्छेद 308 से लेकर अनुच्छेद 323 तक अखिल भारतीय सेवाओं की विशेष स्थिति आदि का प्रावधान है। अनुच्छेद 311 और 314 में संशोधन कर आई० सी० एस० अधिकारियों की विशेष सुविधाओं को समाप्त किया गया है।[18] केन्द्र सरकार को यह भी अधिकार है कि यदि वह उचित समझे तो राज्य सभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करवा कर नयी अखिल भारतवर्षीय सेवाओं के गठन की व्यवस्था करे।[19] विधान में सेवाओं की भर्ती के लिए लोक सेवा आयोगों की व्यवस्था है, जिनके संगठन, कार्य काल तथा सेवास्थिति के विषय में विधान में निश्चित प्रावधान प्रस्तुत किये गये हैं। केन्द्र में संघीय लोक सेवा-आयोग और राज्यों के राज्य लोक-सेवा आयोग जिस विधि से बनेंगे और कार्य करेंगे वह अपने आप में सार्वजनिक सेवाओं की लोकतन्त्रात्मकता की गारन्टी है। संविधान ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि इन लोक सेवाओं को यथेष्ट सुरक्षा मिले और योग्यता का आधार लेकर इनमें प्रवेश पाने वाले नवयुवक अपनी समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों का उपभोग कर सकें। अखिल भारतवर्षीय सेवाओं की ऐतिहासिक विरासत को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान ने राज्यों को पूरी स्वतन्त्रता दी है[20] कि वे अपनी राजकीय सेवाओं का विकास करे और यदि आवश्यक समझें तो केन्द्र के साथ मिलकर नयी अखिल भारतीय सेवाओं की भी व्यवस्था करें। भारतीय संविधान की केन्द्रीय सूची में आल इण्डिया सेवाओं के प्रशिक्षण कार्य को भी जोड़ा गया है।[21] आई० ए० एस० और आई० पी० एस० के पदाधिकारियों को चाहे वे किसी भी राज्य में प्रतिनियुक्ति पर हो केन्द्र सरकार अपनी योजना के अनुसार प्रशिक्षण देती है। यह व्यवस्था केन्द्र राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रशासकीय सम्बन्ध यद्यपि विधान में बहुत संक्षिप्त रुप में दिये गये हैं[22] किन्तु राज्यपाल, राष्ट्रपति, अखिल भारतीय सेवायें और अखिल भारतीय अधिनियमों के रुप में केन्द्र का वर्चस्व स्पष्ट है। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने का अधिकार राष्ट्रपति को है।[23] इसी प्रकार जल, थल, नभ मार्गो तथा अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों के वहन के लिए राष्ट्रपति को राज्य प्रशासन को निर्देश देने का अधिकार है।[24] राज्यपाल जो कि राजकीय प्रशासन का अधिपति है, भारतीय संविधान की संघ व्यवस्था में केन्द्र का मनोनीत प्रतिनिधि भी है। इसी राज्यपाल के माध्यम से केन्द्र का गृह मन्त्रालय एक ओर जबकि राज्य की सारी राजनीतिक स्थिति पर दृष्टि

रखता है, तो दूसरी ओर आपातकाल की घोषणा होने पर राजकीय प्रशासन को केन्द्रीय प्रशासन के हवाले भी कर सकता है।[25] भारतीय संविधान यद्यपि केन्द्रीय सचिवालय और राज्यों के सम्बन्ध निर्वहन में उसकी भूमिका के विषय में सर्वथा मौन है, किन्तु संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्र सूची के विषयों को प्रशासित करने के लिए जो प्रशासन तन्त्र केन्द्रीय मन्त्रालयों के रुप में नयी दिल्ली में अवस्थित है राज्य प्रशासन पर उसका प्रभाव और नियन्त्रण अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।[26] प्रशासनिक सम्बन्धों को भारतीय व्यवस्था की यर्थाथता के सन्दर्भ में यदि आंका जाय तो लगता है कि केन्द्रीय मन्त्रालय राज्य के विषयों तथा राज्य के प्रशासन के प्रति कुछ निश्चित उत्तरदायित्व रखते हैं और इन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए वे जो कुछ भी प्रशासनिक कार्य करते हैं वे केन्द्र राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों को गम्भीर रुप से प्रभावित करते हैं। राज्य प्रशासन के साथ केन्द्रीय मन्त्रालयों की भूमिका को निम्न रुप से देखा जा सकता है :-

1. केन्द्रीय मन्त्रालय उन बहुत से विषयों में जो राज्य और केन्द्र प्रशासन में समान हैं राज्य प्रशासन का नेतृत्व करते हैं। उदाहरण के लिए केन्द्र का गृह मन्त्रालय राज्यों के पुलिस प्रशासन को नीति-निर्माण कार्यों में पहल करने के लिए नीति-निर्देश देता है जबकि पुलिस संविधान के अन्तर्गत राज्य सूची का विषय है। देश की बढ़ती हुई अराजकता और अपराधों की संख्या को देखते हुए यह मानना होगा कि भविष्य में राज्यों की पुलिस शक्ति पर भारी दबाव पड़ेगा। भविष्य में केन्द्र और राज्यों के लिये अधिक सशस्त्र सेना सहायता की व्यवस्था करनी होगी। इस सन्दर्भ में केन्द्र सरकार की भूमिका बिल्कुल स्पष्ट है।[27] इसके अतिरिक्त शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य आदि के केन्द्रीय मन्त्रालय राज्यों के इन्हीं विषयों के मन्त्रालयों को अपना अधीनस्थ मानते हैं और क्लियरिंग हाउस बनने के नाम पर नया नेतृत्व देने का दावा करते हैं।

2. केन्द्रीय मन्त्रालयों में राज्य प्रशासन के अनेक विषयों पर राष्ट्रीय योजनाएं बनती रहती हैं। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र की विभिन्न महत्वपूर्ण समस्याओं में एक अतिमहत्वपूर्ण समस्या यह है कि राष्ट्रीय विकास क्रम में एक ऐसी योजना किस प्रकार तैयार की जाये जिसके द्वारा एक सरकार के अधीन रहते हुए विशाल क्षेत्रीय विकास योजनाओं के माध्यम से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके। इसके साथ ही जुड़ी हुई समस्या यह भी है कि राष्ट्र के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के साथ-साथ राज्यों के विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध आर्थिक असमानताओं और असन्तुलन की बिगड़ती हुई स्थिति को कैसे रोका जाये ? योजनाओं की क्रियान्विति किस ढंग से हो कि राज्यों की योजनाएं भी समोन्नत की जा सके। योजनाओं के सन्दर्भ में वित्त-आयोग, योजना-आयोग, अन्तर्राज्यीय कौंसिलों की स्थापना, राज्य विकास परिषद जैसी संस्थाएं विशिष्ट स्थान रखती हैं और नियोजन के सन्दर्भ में केन्द्र को अधिक प्रभावशाली बनाती हैं। उदाहरण के लिए ये योजनाएं जिन्हें योजना आयोग का समर्थन प्राप्त होता है धीरे-धीरे केन्द्रीय मन्त्रालयों द्वारा राज्य प्रशासन पर आरोपित कर दी जाती है। राज्य इन्हें चाहे अथवा न चाहे अनेक राजकीय विषयों पर राष्ट्रीय योजनाएं बनाना केन्द्रीय मन्त्रालयों में एक सामान्य बात है, जिसे वे वित्तीय अनुदान के प्रलोभन के साथ राज्यों पर थोपते रहते हैं।

3. प्रशिक्षण और शोध के कार्यों में भी केन्द्रीय मन्त्रालयों ने जिस भूमिका को अपने आप स्वीकार कर लिया है वह राज्य प्रशासन को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रुपों से प्रभावित करती हैं। शोध के नाम पर राज्यों में सुधार की पहल केन्द्र के हाथों में आती जा रही है और प्रशिक्षण को नियन्त्रित करने वाला केन्द्र राज्यों में अपने प्रशासक रखकर एक अखिल भारतवर्षीय प्रशासनिक दर्शन का विकास कर रहा है।

4. प्रशासन के सन्दर्भ में यद्यपि केन्द्र सरकार के मुख्य कार्य समन्वय सम्बन्धी है, किन्तु समन्वय के नाम पर जिस प्रकार की केन्द्रीकृत सत्ता का विकास विगत वर्षों में हुआ है, उसे नियन्त्रण शक्ति कहा जा सकता है। विकास खर्च के नाम पर केन्द्रीय प्रशासन ने राजकीय प्रशासन की प्रगति को नापने तथा बाधाओं आदि का पता लगाने का कार्य अपने ऊपर ले लिया है। योजना और विकास के मदों पर होने वाले खर्च में केन्द्र की भूमिका इतनी बढ़ चुकी है कि राज्य की योजनाओं का मूल्यांकन करने के नाम पर केन्द्रीय मन्त्रालय राजकीय मन्त्रालयों को मनमाने ढंग से अपना आदेश मानने के लिए बाध्य करने लगे हैं। ये प्रशासनिक मूल्यांकन राज्यों की दुर्बलता से अधिक राज्यों की अधीनस्थ स्थिति के परिचायक हैं, जो संघवादी स्थिति को जटिल एवं विषम बनाते हैं।[28]

5. केन्द्र के इस बढ़ते हुए प्रभुत्व को अनेक परम्पराओं द्वारा भी केन्द्र के पक्ष में विकसित किया जा रहा है। गृह, कृषि, वित्त आदि कितने ही मन्त्रालयों में यह एक वार्षिक परम्परा बन चुकी है कि राज्यों के सचिव और आयुक्तों को नयी दिल्ली में आमन्त्रित किया जाये और नीति सम्बन्धी निर्णयों पर आम राय बनाई

जाये। यहां पर भी केन्द्रीय प्रशासन की भूमिका इतनी सशक्त है कि राजकीय प्रशासन एकरुपता, समायोजन तथा विकास के नाम पर धीरे-धीरे केन्द्र के समक्ष अपनी स्वायत्तता को स्वेच्छा से त्यागता हुआ प्रतीत होता है। इन प्रशासकीय फोरमों के माध्यम से केन्द्र ने राजकीय प्रशासनों पर अपने शिकंजे कठोर कियें हैं और उन्हें अधीनस्थ स्थिति में रखने के लिए अपनी स्थिति का दुरुपयोग किया है।[29]

6. विदेश-नीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भारतीय संविधान में केन्द्र का एकाधिकार है, किन्तु सार्वजनिक उद्यम के क्षेत्र में एक ओर जबकि राज्यों में बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठान लगाये गए हैं, तो दूसरी और विदेशी पूंजी तथा विदेशी सहयोग की भी राज्य-स्तर पर उपेक्षा की गयी है। विदेशी मुद्रा और विदेशी सहयोग के क्षेत्र में चूंकि केन्द्र अपनी अन्तिम राय रखता है अत: राज्यों के मन्त्रालय अथवा सार्वजनिक उद्योग प्रतिष्ठान अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में यदि कोई पहल करना भी चाहें तो वे पूरी तरह केन्द्र के अधीन हैं और उसकी अनुमति के बिना कोई भी निर्णय नहीं ले सकते। इसी प्रकार केन्द्रीय मन्त्रालयों की विशेष स्थिति कल्याणकारी कार्यक्रमों में भी देखी जा सकती है। संविधान में यद्यपि जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण एवं राजकीय स्वायत्तता का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु फिर भी इस प्रकार की योजना, प्रक्रिया में प्रशासकीय केन्द्रीकरण एवं एकरुपता को बढावा देती है। इन प्रवृत्तियों पर कितने ही वाद-विवाद हुए हैं तथा जनतन्त्र और विकास के क्षेत्र में प्राप्त होने वाले तनाव कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्षेत्र मे सबसे अधिक सामने आये हैं। योजनाओं और कार्यक्रमों की कठोरता तथा राज्यों द्वारा बतलाये गये दोषों को प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया। राज्य स्तरीय प्रशासन की चर्चा करते हुए अध्ययन दल ने लिखा है 'यद्यपि देश में एक राष्ट्रीय विकास परिषद है और सज्यों के मुख्यमन्त्री इसके सदस्य हैं, फिर भी योजना आयोग इस प्रकार कार्य करता है कि राज्यों की अपनी विकास योजनाओं के निर्माण में अपनी विशेष स्वतन्त्रा एवं स्वायत्तता नहीं रहती। राज्य की योजनाएं इस बात पर निर्भर करती हैं कि केन्द्र किस प्रकार से कितनी सहायता देता है। केन्द्रीय ऐजेन्सियों में इस प्रकार की प्रवृति देखने को मिलती है कि वे समवर्ती विषयों के क्षेत्र में राज्यों के साथ काम करते हुए अपनी बात मनवाना चाहती है। केन्द्रीकरण की इस प्रवृति को रोकने के लिए राज्य और स्थानीय स्तरों पर योजनाओं को विकसित करने के लिए कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया गया है।

इस प्रकार प्रशासकीय दृष्टि से केन्द्र और राज्यों के बीच सम्बन्धों का एक ऐसा अन्तर-गुम्फित जाल है कि राजकीय प्रशासन केन्द्र पर निर्भर हुए बिना सरलता से चल नहीं सकता। केन्द्रीय प्रशासन ने जाने अनजाने राजकीय प्रशासनों का नेतृत्व छीन कर समन्वय के नाम पर उन्हें नियन्त्रित करना आरम्भ कर दिया है। विकास प्रशासन इन सम्बन्धों को और भी अधिक जटिल एवं केन्द्र प्रधान बनाता जा रहा है। संविधान में यद्यपि प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रुप से यह नहीं चाहा गया था कि प्रशासनिक स्तर पर इन सम्बन्धों का यह स्वरुप बने, किन्तु जैसे-जैसे संघ शासन का आकार फैला तथा उसके पास योजनाओं के नाम पर अधिक धन-राशि आयी वैसे-वैसे ही यह प्रशासनिक हस्तक्षेप और नियन्त्रण धीरे-धीरे कड़ा होता चला गया। प्रशासन की इस केन्द्रीय और राजकीय स्थिति के लिए दो आयोग उत्तरदायी हैं, एक वित्त-आयोग और दूसरा योजना-आयोग। वित्त-आयोग संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत हर पांचवे वर्ष राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होता है जबिक योजना आयोग मन्त्रिमण्डल के प्रस्ताव द्वारा मार्च 1950 में बनाया गया था और आज भी एक गैर-संवैधानिक संस्था के रुप में भारतीय अर्थ तन्त्र का संचालन कर रहा है।

भारतीय संविधान में आर्थिक साधनों का वितरण अत्यन्त ही जटिल और केन्द्र के साथ पक्षपात की दृष्टि से निर्धारित किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 268 से लेकर 275 तक इस वर्गीकरण के अभ्यास द्वारा यह स्पष्ट है कि केन्द्र राज्यों के मध्य यह वित्तीय विभाजन किस तरह लागू किया जायेगा और आय स्रोतों को कैसे बांटा जायगा ? उदाहरणार्थ स्टाम्प, एक्साइज, टायलेट के सामान आदि पर लगने वाला अधिभार केन्द्र द्वारा लागू किया जायेगा और राज्य द्वारा वसूल होगा।[30] इसी प्रकार एस्टेट-ड्यूटी, टर्मिनल टैक्स आदि लेवियां केन्द्र द्वारा लगायी और वसूल की जायेंगी, किन्तु बाद में राज्यों को सौंप दी जायेंगी।[31] कृषि आमदनी को छोड़कर अन्य आय साधनों पर लगाया गया टैक्स केन्द्र द्वारा वसूल किया जायेगा, किन्तु वसूली के बाद केन्द्र और राज्यों के बीच में बांट दिया जायेगा।[32] एक्साइज ड्यूटी लगायी और वसूल तो केन्द्र द्वारा की जायेगी, किन्तु केन्द्र और राज्य के बीच बांटी जा सकती है।[33] स्पष्ट है कि वित्त प्रशासन का यह वितरण न स्थायी हो सकता है और न ही राज्यों की आवश्यकताओं को समुचित ढंग से पूरी कर सकता है। अत: राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाने वाला एक वित्त-आयोग हर पाचवें वर्ष दो बातों पर निर्णय करता है। प्रथम

केन्द्र और राज्यों के बीच आय अथवा करों का वितरण किस आधार पर हो तथा दूसरे केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों का सैद्धान्तिक आधार क्या हो।[34] केन्द्र द्वारा स्वतन्त्र विशेषज्ञ एवं सलाहकार के रुप में नियुक्त होने वाला यह कमीशन पिछले चालीस वर्षों से केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये गये अनुदानों का प्रतिशत बढ़ा रहा है और अनुदानों का यह विषैला वृत इस तरह फैल चुका है कि राज्य प्रशासन केन्द्र का मुखापेक्षी बन कर रह गया है। ऋण और उधार के क्षेत्र में भी यही दशा है और केन्द्र धीरे-धीरे अनुदान के नाम पर राज्य प्रशासनों की नीति और उसके क्रियान्वयन तक पर नियन्त्रण करने लगा है। वित्त-आयोग ने अपने सभी प्रतिवेदनों में राज्यों की आय को कठोर एवं अनमनीय पाया है[35] और केन्द्र सरकार से यह आग्रह किया है कि वह राज्यों के विकास में अधिक उदारतापूर्ण योगदान दे। वित्त-आयोग की सिफारिशें विशेषकर अनुदान के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष देती हैं कि राजकीय सरकारें अनुदान लेने के नाम पर अपनी प्रशासकीय स्वायत्तता को धीरे-धीरे गिरवी रखती जा रही है और केन्द्र सारे देश की अर्थ-व्यवस्था का जिम्मेदार होने के नाते संघीय अर्थ-व्यवस्था को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था समझने लगा है, जिसके फलस्वरुप राजकीय प्रशासन केन्द्र प्रशासन की इकाइयां से बनते दिखाई देते हैं।

योजना आयोग का यद्यपि संविधान से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु आज जिस तरह यह आयोग कार्य कर रहा है, उसकी भूमिका को देखते हुए यह मानना होगा कि केन्द्र राज्यों के सम्बन्ध वे नहीं रह सकते, जैसे कि संविधान में सुझायें गये हैं। प्रधान-मन्त्री की अध्यक्षता तथा वित्त और योजना मन्त्रियों के सहयोग से कार्य करने वाला यह आयोग अपनी विकासात्मक भूमिका के कारण एक सुपर कैबिनेट तथा सुपर पार्लियामेन्ट तक कहा जा सकता है।[36] इस आयोग ने पिछले दशकों में एक ऐसी आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति बनायी हैं जिसके फलस्वरुप केन्द्र में एक नया प्रशासन तन्त्र जन्म ले चुका है। इसे आर्थिक प्रशासन भी कहा जाता है। अर्थ-व्यवस्था को संचालित करने वाला यह योजना आयोग संघ व्यवस्था की राजनीतिक पालिसी को उस सीमा तक स्वीकार नहीं करता जिस सीमा तक संविधान उसका आदर करना चाहता है।[37] राज्यों में चूंकि राज्य-स्तरीय योजना आयोग नहीं है, इसलिए राष्ट्रीय योजना आयोग अपने आप में उनकी स्वाधीनता पर एक आघात है। योजना-आयोग के माध्यम से केन्द्र सरकार जिन प्राथमिकताओं की सूची तैयार करती है तथा राज्यों को जिस ढंग से सहायता और अनुदान देना चाहती है तथा जिस कठोरता से राज्यों की विकास योजनाओं को सशर्त धन देने की व्यवस्था करती है, वह सब एक ऐसी असहाय स्थिति है कि राज्य प्रशासन को धीरे-धीरे केन्द्र की आधीनता को स्वीकारना अनिवार्य हो जाता है।[38] योजना जब किसी राज्य को दी जाती है, तो चाहे वह पूरी तरह केन्द्र द्वारा चलायी गयी हो अथवा समान सहायता के आधार पर राज्य ने आरम्भ की हो, दोनों ही स्थितियों में राज्य प्रशासन केन्द्र से यह आशा करता है कि वह उसकी सफलता की जिम्मेदारी ले। केन्द्र के अनुदान यदि समय पर नहीं मिलते तो किसी भी राज्य की योजना का क्रियान्वयन कभी भी ठप्प हो सकता है और ऐसी स्थिति में राज्यों के पास कोई चारा नहीं है सिवाय इसके कि वे केन्द्र से अपनी वार्षिक प्रार्थनाएं और याचनाएं करते रहे।[39]

यह एक आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष में केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय सूची की अपेक्षा राजकीय सूची पर अधिक धनराशि खर्च करती है।[40] जो विषय राज्यों को चलाने चाहिए वे राज्यों में इसलिए चल रहे हैं कि केन्द्र ने उनका वित्तीय पक्ष सम्हाल रखा है। राज्य अपने आर्थिक निर्णयों को अपने राजनितिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं और इस तरह राज्यों की राजनीति केन्द्र पर निर्भर होती हुई अपनी स्वायत्तता खो रही है। सारे मुख्यमन्त्री योजना आयोग के सामने जाकर गिड़गिड़ाते हैं और राष्ट्रीय विकास परिषद में उनकी कोई नहीं सुनता। राष्ट्रीय राजनीति जिस योजना आयोग के चारों ओर विकसित हो रही है उसने अपने पास ऐसे विशेषज्ञ रख छोड़े हैं कि उनका परामर्श उसके साथ लगी चेतावनियों के कारण आदेश से भी अधिक हैं। योजना की प्रक्रिया के माध्यम से केन्द्र सरकार राज्यों को विकास परियोजनाएं बांटती हैं और वे योजनाएं चाहे स्थानीय रुप से उपयोगी एवं व्यावहारिक हों या न हों, राज्य सरकारें उन्हें स्वीकार करती चली जा रही हैं।[41] योजनाबद्ध विकास की यह राजनीति कितनी ही बार राज्य स्तर पर विशेषत: जबकि राज्य की सरकार भिन्न दल की होती हैं, राजनीतिक तनाव उत्पन्न करती हैं, जिसके कारण अनेक बार यह मांग भी उठी है कि योजना निर्णयों का अराजनीतिकरण (डिपालिटिशाइजेशन) किया जाय।[42]

प्रशासन के क्षेत्र में भारतीय संविधान के गत चालीस वर्ष अत्यन्त समृद्ध अनुभव के वर्ष रहे हैं। इन वर्षों में कितने ही बार बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक विप्लव ने प्रशासनिक व्यवस्था को झकझोरा है। न्यायालयों में उसके क्षेत्राधिकारों पर बहसें हुई हैं तथा निर्णय आये हैं। ससंद में कितनी ही प्रशासनिक अनियमितताओं

एवं घोटालों का भण्डाफोड हुआ है और राजनीतिक दलों तथा शासक मन्त्रियों ने प्रशासन को विकास यन्त्र के रुप में अनुपयुक्त ठहराया है। किन्तु इन सबके बावजूद भी भारतीय प्रशासन मूल रुप से अपनी संवैधानिक सीमा में रहा है। उसकी उत्तरदायी प्रकृति के विषय में विवाद हो सकता है किन्तु इसमें कोई दो राय नहीं है कि वह योग्यता (मैरिट) और अवसर की समानता के आधार पर संगठित एक जीवित संगठन है। बौद्धिक विशिष्टता के उस भर्ती सिद्धान्त को, जो भारतीय प्रशासन में ऐतिहासिक रुप में चला आ रहा था, भारतीय संविधान ने जीवित रखने का प्रयास किया है। उसने प्रशासन के सभी स्तरों पर कार्य कुशलता के सिद्धान्त को नौकरशाही का कार्यकारी सिद्धान्त माना है। भारतीय लोक सेवाओं में दक्षता, कार्यनिपुणता, अनुभव तथा प्रशिक्षण आदि के जो कार्यकारी सिद्धान्त पाये जाते हैं वे भी जनतन्त्र के कानून के शासन और अवसर की समानता के अधिकार की अनुरुपता को सिद्ध करते हैं।

केन्द्रीय सेवाओं में भी चाहे वे केन्द्र के विषयों के लिए हों या अखिल-भारतवर्षीय, संविधान में किसी प्रकार के विशेष अधिकारों का समर्थन नहीं किया गया है। केन्द्रीय सेवाओं में राज्यों के आधार पर चयन नही होता और न ही संघीय लोकसेवा आयोग इस दृष्टि को ध्यान में रखकर नियम बनाता अथवा चयन करता है कि किसी क्षेत्र विशेष या वर्ग विशेष को प्रशासन का लाभ मिल सके। अभी हाल में जबकि प्रादेशिक भाषाओं को अखिल भारतवर्षीय प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम का प्रश्न उठाया गया तो भी भारत सरकार और केन्द्रीय आयोग ने अखिल भारतवर्षीय सेवाओं में राज्यों के निश्चित कोटे के निर्णय को यह मानकर अस्वीकार कर दिया कि ऐसा करना संविधान की जनतन्त्रात्मकता के प्रतिकूल होगा। लेकिन बाद में जनता सरकार के शासन के दौरान इस बात को स्वीकार कर लिया गया। केन्द्रीय सेवाओं में सारे देश से श्रेष्ठ व्यक्ति चुने जाते हैं और उन्हें 'जनरलिस्ट' परम्परा में भी इसीलिए रखा गया है कि वे संसदीय व्यवस्था में अधिक अच्छी तरह से फिट हो सके, मन्त्री को सलाह देते समय तथा अपने विभाग की नीतियों को कार्यान्वित करते समय अपने को तटस्थ, अनाम तथा गुमनाम रख सकें। प्रशासन की तटस्थता ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था की एक विशेषता रही है और 'एलिटिस्ट' 'जनरलिस्ट' अखिल भारतीय सेवाओं को रखने वाला भारतीय संविधान प्रशासन के माध्यम से जनतन्त्र को सशक्त बनाने का प्रयास करता है।

यद्यपि प्रशासन पर जनतान्त्रिक नियन्त्रण की दृष्टि से संविधान में कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं है किन्तु ससंद की सार्वभौमिकता का सिद्धान्त उसे ससंद के प्रति उत्तरदायी बनाता है। नीतियों की क्रियान्विति के लिए ससंद के सदनों में प्रशासन को आड़े हाथों लिया जाता है और संघीय लोक सेवा आयोग, महालेखापाल, जनलेखा समिति तथा प्राक्कलन समिति आदि के वार्षिक प्रतिवेदनों पर बहस करने वाली संसद प्रशासन को नियन्त्रित कर उससे यह अपेक्षा करती है कि वह केवल जन भावनाओं का प्रतिनिधित्व ही न करे, बल्कि जनमत का आदर करती हुई उसके अनुसार आचरण भी करे। इसी प्रकार संवैधानिक उपचारों का अधिकार एक ओर जबकि प्रशासन को न्यायालय के कठघरों तक खींच लाता है, तो दूसरी ओर प्रशासकों को भी यह आश्वासन देता है कि कानून के शासन में उनके मूल अधिकारों की रक्षा की जायेगी। न्यायिक पुनर्विचार का सिद्धान्त तथा न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र जिस प्रकार से भारतीय संविधान में दिये गये हैं, वे प्रशासन की प्रक्रिया को जनतान्त्रिक नियन्त्रण के आधीन कर सीमित बनाते है। न्यायालय मूल अधिकारों के रक्षक हैं और संविधान के संरक्षक। इस दृष्टि से वे प्रशासन की भी रक्षा करते हैं और प्रशासन के अन्याय और अतिक्रमण से भी नागरिक को बचाते हैं।

जहां तक संघवाद का प्रश्न है, भारतीय प्रशासन में केन्द्र-राज्यों के सम्बन्ध केन्द्र के प्रभुत्व को स्पष्टता से प्रदर्शित ही नहीं करते, बल्कि सुदृढ़ भी बनाते हैं। केन्द्र की कल्याणनीति उसके प्रशासन तन्त्र को सारे देश में इस तरह फैला रही है कि राज्य-प्रशासन उसके अनुगामी मात्र बन कर रह गये हैं। सार्वजनिक उद्यम के रुप में केन्द्र का एक औद्योगिक प्रशासन हर राज्य में इस तरह फैल गया है कि राज्यों के अपने औद्योगिक प्रशासन उनके सलाहकार बन कर रह गये हैं। केन्द्रीय प्रशासन ने राज्य के प्रशासनों के साथ जो अन्तर्सम्बन्ध स्थापित किये हैं वे समन्वय के नाम पर नियन्त्रण की स्थिति को छूते जा रहे हैं और इस प्रशासनिक सम्बन्ध की दशा को चार स्थितियों में देखा जा सकता है।

1. प्रशासनिक सम्बन्धों की वह स्थिति जबकि केन्द्र सलाह, सहयोग, सहायता और समर्थन के नाम पर राज्यों में अपना प्रभाव-क्षेत्र फैला रहा है और अपने प्रशासन तन्त्र को राज्यों में आवश्यक सिद्ध कर रहा है।
2. प्रशासनिक सम्बन्धों की वह स्थिति जहां यह सहयोग और समर्थन राज्यों की अपनी वैधानिक सीमाओं में केन्द्रीय

हस्तक्षेप कहा जा सकता है, और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दबाव डालकर केन्द्रीय मन्त्रालय राजकीय प्रशासन से अपनी नीतियों को मनवाने में पहल करते हैं।

3. केन्द्र और राज्य के प्रशासनिक सम्बन्धों की वह स्थिति जबकि राज्य अपने आप को विवश महसूस करते हैं और अपनी दुर्बलता के कारण केन्द्र के प्रशासनिक तन्त्र को अपने पर नियन्त्रण स्थापित करने की स्थिति में ला देते हैं।

4. संकट काल की वह स्थिति जबकि केन्द्रीय प्रशासन राजकीय प्रशासन को निलम्बित कर सारी प्रशासनिक व्यवस्था को अपने हाथों में ले सकता है।

इन चारों स्थितियों मे मात्रात्मक अन्तर ही नहीं अपितु गुणात्मक अन्तर भी है। प्रशासन के क्षेत्र में केन्द्र की प्रमुखता अथवा प्रधानता इसलिए स्वाभाविक है कि केन्द्र के पास अधिक साधन है, वैधानिक दृष्टि से अधिक शक्तियां है तथा वैधानिक सीमाओं में ऐसे अवसर और स्थितियों को उत्पन्न करने की पर्याप्त क्षमता है, जिनके कारण राज्य का प्रशासन प्रभावहीन और अनुयायी बन सकता है। राज्यपाल इस सारी स्थिति को केन्द्र की दृष्टि से नियोजित करने वाला एक महत्वपूर्ण संवैधानिक अधिकारी है, जिसकी प्रशासनिक शक्तियां निश्चय ही विस्तृत और वास्तविक है।

अखिल भारतीय सेवाओं की दृष्टि से भी केन्द्र का प्रशासनिक तन्त्र राज्य प्रशासन की महत्वपूर्ण कड़ियों के रुप में फैला हुआ है। जिला प्रशासन से लेकर मुख्य सचिव तक के अधिकारी उस आई० ए० एस० सेवा के सदस्य हैं जिसकी प्रकृति संघीय अधिक है और राजकीय कम। ये सेवाएं राष्ट्रीय-एकीकरण के साथ-साथ राज्य प्रशासन का गैर-राज्यीकरण (डिस्टेटाइजेशन) भी करती है और संघ शासन की इससे बड़ी विडम्बना भला क्या हो सकती है कि उसके राज्य प्रशासन के महत्वपूर्ण अधिकारी अपने को राज्य प्रशासन का अंग नहीं समझते और गैर-राजकीय निष्ठा (एक्स्ट्रा स्टेट-लायलटी) रखते हैं।

संघीय सन्दर्भ में वित्त और योजना आयोगों ने जो भूमिकाएं निभायी हैं तथा जो सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, उनको देखकर यह कहा जा सकता है कि इन दोनों क्षेत्रों में राज्य-प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन के साथ किसी प्रतियोगिता में नहीं उलझ सकता। योजना-आयोग को जो काम मिले हैं वे प्रशासन की दृष्टि से केन्द्रीय कार्य हैं। एक स्टाफ यन्त्र के रुप में योजना-आयोग नीतियों का प्रमुख निर्माता है और जिस विशेषीकरण से वह मन्त्रिमण्डल और संसद को सलाह देता है वह उसके अधिकार क्षेत्र को अन्तिम बनाती है। यह प्रशासनिक यन्त्र जिसे संविधान के बाहर केन्द्र प्रशासन ने तैयार किया है राजकीय प्रशासनों में फैलता जा रहा है और उन्हें एक सबोर्डिनेट एडमिस्ट्रेशन या अधीनस्थ प्रशासन की स्थिति में ला चुका है। राज्य प्रशासनों को योजना आयोग से बातें करते समय जिस स्थिति का सामना करना पड़ता है वह सचमुच राज्य केन्द्र के सम्बन्धों की स्थिति नहीं है, बल्कि एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक नीति-निर्माता है और दूसरा नीति का पालन कर्त्ता। आयोजना के विषय में संवैधानिक स्थिति चाहे कुछ भी हो, किन्तु आयोजना मन्त्रालय के माध्यम से केन्द्र ने सारे देश पर जिस एक छत्र साम्राज्य को स्थापित किया है, वह के० सी० ह्वीयर या अमेरिकन संघवाद के किसी भी 'क्लैसिकल पैटर्न' के कहीं समीप भी नहीं आता। प्लानिंग फ्राम बिलो अथवा 'नीचे से आयोजना', जिसे जन-तन्त्रात्मक नियोजन भी कहते हैं, व्यावहारिकता में भारतीय प्रशासन की एक असम्भाविता एवं असफलता रही है और राजकीय प्रशासन भागीदार व 'पार्टीसिपेन्ट' होने के स्थान पर 'सबोर्डिनेट मैकेनिजम्स' या अधीनस्थ यन्त्र बन कर रह गये हैं।

गत चालीस वर्षों में वित्त आयोगों ने केन्द्र को अधिक कर और राज्यों को अधिक अनुदान दिलाने की नीति स्वीकार कर राज्य प्रशासन को केन्द्र प्रशासन का मुखापेक्षी बनाया है। केन्द्र अनुदान को अहसान के रुप में देता है और टैक्स की राशि को अपना अधिकार मानता है। ऐसी स्थिति में राज्यों का प्रशासन न आत्मनिर्भर बन सका है और न ही प्रभावपूर्ण। राज्यों के पास जो थोड़े बहुत आमदनी के स्रोत हैं, उन्हें भी चुनावों के भय से काम में नहीं लिया जा सकता, जबकि केन्द्र सरकार अपने करों की आमदनी को अधिक स्वतन्त्रता से खर्च कर सकती है। अनुदानों के रुप में केन्द्र का नियन्त्रण केवल सशक्त ही नहीं बल्कि हस्तक्षेप की सीमाओं तक है। राज्य प्रशासन को अनुदान खोने के भय से अनावश्यक एवं अनचाहे कार्य तक करने पड़ते हैं और बहुत सी क्षेत्रीय आवश्यकताएं इसलिए पूरी नहीं हो पातीं कि वे केन्द्र की राष्ट्रीय नीतियों में फिट नहीं होती। वित्त आयोग ने केन्द्र की सशक्तता को बढ़ा कर राज्य प्रशासन को इतना दुर्बल बना दिया है कि केन्द्र राज्य सम्बन्धों में वित्तीय सम्बन्धों की स्थिति उनकी प्रशासनिक स्वायत्तता को निगलती जा रही है।

भारतीय संविधान आज चालीस वर्षों के प्रयोग के बाद केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का जो स्वरुप स्वीकार करता जा रहा है उसमें संघात्मकता का स्वायत्तताधारी आदर्श स्वरुप केन्द्रीकरण के सामने टूटता जा रहा है। प्रशासनिक सम्बन्ध इस सारे सन्दर्भ में राजनीतिक सम्बन्धों के इस प्रकार अधीन बन चुके हैं कि राज्यों को स्वायत्तता दिलाने के बदले वे उनकी अधीनस्थ स्थिति को और भी अधिक प्रस्थापित करते हैं। केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भारतीय संविधान की मूल विशेषता थी और प्रशासन के क्षेत्र में यह जितनी गत दशकों में बढ़ी है उतनी सम्भवत: अन्य क्षेत्रों में नहीं। प्रशासकीय सेवाओं आदि की दृष्टि से भी संविधान में केन्द्र और राज्यों के स्तर समान नहीं है। केवल युद्ध और संकटकाल में ही नहीं अपितु सामान्य समय में भी केन्द्र को विशिष्ट स्थिति मिली हुई है। राज्यों की स्वायत्तता सीमित है। राज्यों के संविधान भारतीय संविधान में अंग मात्र है। किसी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह अपना संविधान बदल सके, किन्तु संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान के अनेक महत्वपूर्ण भागों को बदल दें। इसमें यह अधिकार भी शामिल है कि वह अपनी इच्छानुसार राज्यों के क्षेत्रफल, सीमाएं और नाम आदि भी बदल सकती हैं। केवल कुछ विशेष दशाओं में ही यह आवश्यक रखा गया है कि राज्यों का बहुमत इस निर्णय को अनुमोदित करे। समवर्ती सूची में कितने ही महत्वपूर्ण विषय है। इनमें कुछ विषय जैसे दीवानी और फौजदारी कानून, सीमाओं की सुरक्षा, कानूनी सेवा, चिकित्सा, व्यवसाय, मूल्य नियन्त्रण, मोटर-यातायात, विद्युत, फैक्ट्रीज इत्यादि ऐसे विषय हैं जिनके लिए यद्यपि केन्द्र और राज्य दोनों कानून बना सकते हैं, किन्तु भारतीय संसद द्वारा निर्मित कानून ही अन्तिम एवं स्थायी माने जाते हैं। यह प्रावधान भारतीय संसद की प्रधानता स्थापित करता है। इसी प्रकार राज्यपाल तथा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। अखिल भारतीय सेवाओं के लिए चयन संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा किया जाता है। अनुच्छेद 356 और 357 में आपातकाल की घोषणा के अन्तर्गत भारतीय राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह राज्य सरकारों को निलम्बित कर राज्यों पर केन्द्र सरकार का प्रभुत्व स्थापित कर सके। स्पष्ट है कि केन्द्र के पास राज्यों की अपेक्षा प्रभावशाली शक्तियां अधिक हैं। इन संवैधानिक प्रावधानों के अतिरिक्त भी अनेक राजनीतिक आर्थिक परिवर्तनों ने केन्द्र को अधिक सशक्त बनाया है। उदाहरण स्वरुप नियोजन कार्यों की क्रियान्विति हेतु केन्द्र के भारी अनुदानों और सहायता ने सम्पूर्ण संघीय व्यवस्था को पूरी तरह झकझोर डाला है। स्वयत्तता की दृष्टि से नियोजन व्यवस्था ने राज्यों को हानि पहुंचायी है। राष्ट्रीय विकास परिषद की भूमिका एक 'सुपर केबीनेट' की सी बनती जा रही है तो योजना आयोग भी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का ही एक विस्तृत स्वरुप बन चुका है। ग्रामीण विकास योजना के कार्यक्रम भी राज्यों की स्वायत्तता के मार्ग में बाधक ही सिद्ध हुए हैं क्योंकि इस योजना में केन्द्र सरकार द्वारा जिस प्रकार कार्यक्रम बनाये और विकसित किये जाते हैं उसे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य तत्व जैसे क्षेत्रीय परिषद, अभियान्त्रिक, चिकित्सा एवं वन सेवाओं का अखिल भारतीय सेवाओं के रुप में गठन तथा चुनावों की राजनीति आदि जिस प्रकार डबल रही है उन सभी का केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्यों पर केन्द्र की शक्ति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ी है, किन्तु इसके लिए बढ़ते हुए आर्थिक और वित्तीय भार की जिम्मेदारियां उस अनुपात में नहीं बढ़ सकी हैं। यद्यपि यह केन्द्रीकरण की प्रवृति संघीय स्वरुप को नष्ट नहीं कर पायी, किन्तु संविधान में केन्द्र राज्य सम्बन्धों के जिस स्वरुप का निरुपण किया गया है वह व्यावहारिक राजनीति में परिवर्तित रुप से उभर कर सामने आया है। यही व्यावहारिक राजनीति एवं आने वाले दशकों में होने वाले परिवर्तन केन्द्र राज्य सम्बन्धों का रुप निर्धारण कर इसके संघीय स्वरुप को नियमित कर सकेंगे।

टिप्पणियां

1. *भारतीय संविधान*, पब्लिकेशन डिविजन, नयी दिल्ली, 1960 धाराएं, 308-14
2. रजनी कोठारी, *पालिटिक्स इन इण्डिया*, ओरियन्ट लांगमैन, दिल्ली, 1970, पृ० 139-42
3. *भारतीय संविधान*, अनुच्छेद 324 एवं 326
4. *उपर्युक्त*, अनुच्छेद, 74 एवं 75
5. *उपर्युक्त*, अनुच्छेद, 139 एवं 147
6. आस्टिन ग्रैनविल, *इण्डियन कान्सटिट्यूशन*- कार्नर स्टोन आफ ए नेशन, लन्दन, 1966
7. अशोक चन्दा, *इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन*, जार्ज एलन एण्ड उनविन, लन्दन, 1967, पृष्ठ 97-142
8. प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन के अनुसार सन् 1966-67 तक भारतीय प्रशासन में 6 स्टेटयूटरी कारपोरेशन्स तथा 70 गवर्नमेन्ट कम्पनीज की स्थापना हो चुकी थी।
9. ए० डी० गोरवाला, *रिपोर्ट आन दि एफीसियेन्ट आफ स्टेट एन्टरप्राइज*, दिल्ली 1951
10. कोल एण्ड शखधर, *प्रेक्टिस एण्ड प्रोसीजर आफ पार्लियामेन्ट*, मैट्रोपालिटन, दिल्ली, 1968
11. *भारतीय संविधान*, पूर्वोक्त, भाग 14, अध्याय 2
12. *उपर्युक्त*, धाराएं 14, 15 तथा 16
13. डीन पाल एपलबी, पब्लिक, *एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया*, रिपोर्ट आफ ए सर्वे, कैबिनेट, सैक्रेटेरियट, नयी दिल्ली, 1953
14. कोठारी एण्ड राय, *रिलेशन्स बिटविन पार्लिटिसियन्स एण्ड एडमिनिस्ट्रेटर्स एट दी डिस्ट्रिक्ट लैविल*, आई० आई० पी० ए०, न्यू देहली, 1969 पृष्ठ 167-68
15. सैम्पल जे० एलडसवैल्ड, *दि सिटीजन एण्ड दि एडमिनिस्ट्रेटर इन ए डवलपिंग डेमोक्रसी*, आई० आई० पी० ए० न्यू देहली, 1968
16. के० सन्थानम, *यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1960
17. *भारतीय संविधान*, पूर्वोक्त धारा 249
18. *भारतीय संविधान*, संशोधन संख्या 28, 197
19. *भारतीय संविधान*, पूर्वोक्त, धारा 312
20. *पूर्वोक्त*, धारा 312
21. *भारतीय संविधान*, शिड्यूल 7, आईटम नं० 65
22. भारतीय संविधान में जबकि केन्द्र राज्य सम्बन्धों के विधायी पक्ष की 11 धाराओं में तथा वित्तीय पक्ष को ३७ धाराओं में वर्णित किया गया है। प्रशासकीय पक्ष केवल 8 धाराओं में वर्णित मिलता है।
23. *भारतीय संविधान*, धारा 263
24. *उपर्युक्त*, धारा 262
25. *उपर्युक्त*, धारा 356
26. *केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रतिवेदन*, भारतीय सरकार, नयी दिल्ली, 1968
27. *भारतीय संविधान*, शिड्यूल 7, स्टेट लिस्ट, आइटम, 2
28. प्रांजपे एच० के०, *सेन्टर स्टेट रिलेशन्स इन प्लानिंग*, आई० जे० पी० ए०, नई दिल्ली, जनवरी मार्च, 1970, पृ० 47-83
29. ए० आर० सी० इन्टरिम रिपोर्ट आफ दि मशीनरी फार प्लानिंग, दिल्ली, 1967
30. *भारतीय संविधान*, धारा 268
31. *उपर्युक्त*, धारा 269
32. *उपर्युक्त*, धारा 270
33. *उपर्युक्त*, धारा 272
34. *उपर्युक्त*, धारा 280
35. चन्दा एवं त्यागी, *वित्त आयोगों के प्रतिवेदन*, भारत सरकार, नयी दिल्ली।
36. प्राजपे एच० के०, *प्लानिंग कमीशन*, आई० आई० पी० ए०, नयी दिल्ली, 1968
37. प्राजपे एच० के०, *सेन्टर स्टेट रिलेशन्स इन प्लानिंग*, पूर्वोक्त, पृ० 55-78
38. चन्दा अशोक, *इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन*, पूर्वोक्त, पृ० 220-225
39. शिवकुमार, *यूनियन स्टेट फाइनेन्सियल रिलेशन्स*, आई० जे० पी० ए०, दिल्ली, अप्रेल-जून, 1970, पृष्ठ 203-19
40. प्रांजपे, *पूर्वोक्त*, पृष्ठ 55-78
41. *उपर्युक्त*।
42. डी० आर० गाडगिल, *इण्डियन प्लानिंग एण्ड प्लानिंग कमीशन, अहमदाबाद 1958*